चौखम्बा

गीता में आत्मप्रबन्धन

Self Management in The Gita

बी.ए. आनर्स (संस्कृत)–द्वितीय सेमेस्टर, कोड C–4 च्वाइस बेस्ड क्रेडिट सिस्टम (CBCS) के निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार

लेखिका:
डॉ. दीपक कालिया

विषय प्रवेश

प्राक्कथन iii

विषय-प्रवेश iv

वर्ग 'अ'

प्रथम अन्विति 1-13

(i) इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा की सत्ता 1

(ii) आत्मा की भूमिका 2

(iii) अपरा प्रकृति का उत्पाद-मन 4

(iv) त्रिविध गुणों के धर्म एवं मन पर उनका प्रभाव 4

गुणत्रयधर्म एवं उनका चित्त पर प्रभाव 12

वर्ग 'ब'

मनोनिग्रह - मानसिक-द्वन्द्व

प्रथम अन्विति 14-26

(i) मानसिक द्वन्द्वों का स्वरूप 14

(ii) मानसिकद्वन्द्व के निमित्त तथ्य (कारण) 18

(क) अज्ञान 18

(ख) इन्द्रियाँ 19

(ग) मन 20

(घ) रजोगुण 21

(ङ) मन की दुर्बलता 25

द्वितीय अन्विति : मनोनिग्रह के साधन 27-43

(i) ध्यान व बाधाएं 27

(ii) विधि 29

(iii) संतुलित जीवन 31

(iv) आहार नियंत्रण व शुद्धि 34
(v) शारीरिक एवं मानसिक अनुशासन 37
तृतीय अन्विति 44-60
(i) ज्ञान का महत्व 44
(ii) बुद्धि की निर्मलता 47
(iii) निर्णय प्रक्रिया 49
(iv) इन्द्रिय संयम 50
(v) कर्तृभाव का समर्पण 52
(vi) निष्कामभाव 57
(vii) परहितभाव 59
वर्ग 'स'
भक्ति द्वारा आत्मप्रबन्धन
प्रथम अन्विति 60-73
(i) अहंभाव का त्याग 60
(ii) परमात्मा सानिध्य का मार्ग 64
(iii) नैतिक गुणों की प्राप्ति 67
टिप्पणी 74-84
1. अष्टधा प्रकृति 74
2. मन का स्वरूप 74
3. मानसिक द्वन्द्व 75
4. मनोनिग्रह के साधन 75
5. इन्द्रिय-निग्रह 76
6. त्रिविध गुण 77
7. त्रिविधतप 78
8. त्रिविध बुद्धि 79
9. आहार नियंत्रण व शुद्धि 80
10. स्थित प्रज्ञ 82
11. भक्त का लक्षण 83
प्रश्नपत्र का प्रारूप 84
श्लोकानुक्रमणिका 85-86

वर्ग 'अ'
प्रथम अन्विति

(i) इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा की सत्ता

1. **इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।**
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।। (3/42)

अन्वय- इन्द्रियाणि पराणि आहुः इन्द्रियेभ्यः परम्-मनः मनसः तु परा बुद्धिः यः तु बुद्धेः परतः तु सः।

शब्दार्थ- इन्द्रियाणि- इन्द्रियों को, **पराणि-** परे अर्थात् श्रेष्ठ, **आहुः-** कहते हैं, **इन्द्रियेभ्यः-** इन्द्रियों से, **परम्-** श्रेष्ठ, **मनः-** मन है, **मनसः-** मन से, **तु-** तो, **परा-** श्रेष्ठ, **बुद्धिः-** बुद्धि है, **यः-** जो, **बुद्धेः-** बुद्धि से, **परतः-** अत्यन्त परे है, **तु-** तो, **सः-** वह (आत्मा) है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- शोकमोहग्रस्त अर्जुन को श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि तुम 'काम' का त्याग करो क्योंकि यह ज्ञान विज्ञान का 'नाशक' है। काम का त्याग कैसे हो? इसको स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि-

अनुवाद- इन्द्रियों को श्रेष्ठ कहते हैं, इन्द्रियों से अधिक श्रेष्ठ मन है, मन से अधिक श्रेष्ठ बुद्धि है और बुद्धि से अधिक श्रेष्ठ तो 'वह' आत्मा है।

व्याख्या- ज्ञान की प्राप्ति के लिए कामना का नाश करना आवश्यक है। कामना अर्थात् इच्छा। यह मन, बुद्धि और इन्द्रियों में वास करती है और जीव के ज्ञान को ढककर उसे मोह में डालती है। अतः इन्द्रियनिग्रह के द्वारा ही काम का परित्याग संभव है। श्रोत्रादि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों को सूक्ष्म अन्तस्थित और व्यापक आदि गुणों से युक्त होने के कारण श्रेष्ठ कहते हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा मन को श्रेष्ठ इसलिए कहा है कि क्योंकि

संकल्प-विकल्प मन के द्वारा ही होता है मन विचार करता है और इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रेरित करता है। मन की अपेक्षा बुद्धि की विवेक शक्ति द्वारा मन कार्य करता है। बुद्धि निश्चयात्मिका होती है परन्तु बुद्धि को देखने वाला परमात्मा सर्वश्रेष्ठ है। जिस प्रकार एक रथ में घोड़े, लगाम व सारथि का महत्व होता है उसी प्रकार शरीररूपी रथ में इन्द्रियरूपी घोड़े, मन रूपी लगाम और बुद्धि रूपी सारथि महत्वपूर्ण है और सर्वाधिक श्रेष्ठ व महत्वपूर्ण आत्मा रूपी रथी है क्योंकि बिना रथी के रथ गतिशील नहीं होगा सारथी रथी के बिना रथ को गति नहीं देगा। सारथी के हाथ में लगाम होगी तभी घोड़े उचित दिशा में गतिशील होगें। इसलिए सर्वप्रथम आत्मा को सर्वश्रेष्ठ फिर बुद्धि को फिर मन को और अन्त में इन्द्रियों को श्रेष्ठ बताया है कठोपनिषद् में भी कहा है-

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।। (1/3/10-11)

आत्मप्रबन्धन हेतु इन्द्रियों, मन, बुद्धि व आत्मा की भूमिका का ज्ञान अत्यावश्यक है क्योंकि इन्द्रियनिग्रह एवं मनोनिग्रह के द्वारा ही आत्मप्रबन्धन सम्भव है।

(ii) आत्मा की भूमिका

2. **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। (15/7)

अन्वय- जीवलोके मम एव सनातनः अंशः जीवभूतः प्रकृतिस्थानि मनः षष्ठानि इन्द्रियाणि कर्षति।

शब्दार्थ- जीवलोके- मर्त्यलोक में (संसार में), **मम-** मेरा, **एव-** ही, **सनातनः-** सदा रहने वाला, **अंशः-** अवयव (हिस्सा), **जीवभूतः-** शरीरधारी जीवरूप, **प्रकृतिस्थानि-** प्रकृति में रहने वाली, **मनःषष्ठानि-** छठे मन के सहित, **इन्द्रियाणि-** पांच ज्ञानेन्द्रियों का, **कर्षति-** खींच लेता है, अपने साथ ले लेता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'पुरूषोत्तमयोग' नामक पंचदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने विषय में बताते हुए कह रहे हैं कि मेरे परमधाम को पाकर मनुष्य का पुनरागमन नहीं होता क्योंकि-

व्याख्या- संसार में जीव परमात्मा का ही अंश अर्थात् एक भाग है समुद्र का जल घट में आने पर घट जल प्रतीत होता है और घट के नष्ट हो जाने पर पुनः समुद्र में मिल जाता है पुनः घट में नहीं आता। वैसे ही जीव उस परमात्मा का ही अंश है। उस परमात्मा

में ही मिल जाता है। फिर नहीं लौटता। यह मेरा अंश रूप जीव प्रकृति में रहने वाली पांचों इन्द्रियों और छठे मन को अपनी ओर खींच लेता है। इस प्रकार जीव का जन्म होता है। पांच इन्द्रियों तथा मन के संघात का नाम लिंग शरीर है। देह धारण के उपरान्त वह पांच इन्द्रियों और मन को आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है। वस्तुतः जब जीवात्मा स्थूल शरीर धारण कर इस संसार में आता है तभी "यह उत्पन्न हो गया" इत्यादि कहा जाता है। जीव का देहरूप में उत्पन्न होते ही मन की भी उत्पत्ति हो जाती है और फिर इन्द्रियां भी कार्यरत हो जाती है अर्थात् देखना, सुनना, सूंघना आदि कार्य शुरू कर देती है।

3. **श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।**
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।। (15/9)

अन्वय- अयम् श्रोत्रम्, चक्षुः च स्पर्शनम् च रसनम् घ्राणम् च मनः अधिष्ठाय एव विषयान् उपसेवते।

शब्दार्थ- अयम्- यह, **श्रोत्रम्-** कान को, **चक्षुः-** आंख को, **च-** और, **स्पर्शनम्-** त्वचा को, **च-** और, **रसनम्-** जिह्वा (जीभ) को, **घ्राणम्-** नाक को, **च-** और, **मनः-** मन को, **अधिष्ठाय-** अधिष्ठित कर, **एव-** ही, **विषयान्-** इन्द्रियों के विषयों का, **उपसेवते-** सेवन (भोग) करता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'पुरूषोत्तमयोग' नामक पंचदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण यहां मन सहित छः इन्द्रियां कौन सी है? इस विषय में कहते हैं कि-

अनुवाद- यह शरीर में स्थित (जीवात्मा) कान, आंख, त्वचा, जिह्वा और नाक इनमें से प्रत्येक इन्द्रिय को और छठे मन को आश्रय बनाकर शब्दादि विषयों का सेवन किया करता है।

व्याख्या- शब्द, रूप रस गन्ध स्पर्श इन विषयों का सेवन इन्द्रियों के द्वारा ही संभव है और ज्ञानेन्द्रियों से विषय भोग मन के द्वारा ही किए जाते हैं। मन ही इन्द्रियों को विषयों की ओर उन्मुख करता है। मन को इसीलिए छठी इन्द्रिय माना है। यदि मन न चाहे तो श्रोत्रादि इन्द्रिय स्वयं विषयों का सेवन नहीं कर सकती अर्थात् कान शब्द नहीं सुन सकेंगे, आंख रूप नहीं देख सकेगी, त्वचा सर्दी-गर्मी को महसूस नहीं कर पाएगी, जीभ मधुर, लवण का स्वाद अनुभव नहीं कर पाएगी और नाक गंध को नहीं सूंघ पाएगी। अतः विषयोपभोग में छठी इन्द्रिय मन की विशेष भूमिका है।

(iii) अपरा प्रकृति का उत्पाद-मन

4. **भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।**
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। (7/4)

अन्वय-भूमिः आपः, अनलः, वायुः, खम्, मनः, बुद्धिः अहंकार च एव इति इयम् अष्टधा मे प्रकृतिः भिन्ना।

शब्दार्थ- भूमि- पृथ्वी, **आपः**:- जल, **अनलः**:- अग्नि, **वायुः**:- वायु, **खम्**- आकाश, **मनः**:- मन, **बुद्धि**- बुद्धि (महत्तत्त्व) **च**- और, **अहंकारः**:- अहंकार (वासनायुक्त मूल प्रकृति), **इति**- इस प्रकार, **एव**- ही, **इयम्**- यह, **अष्टधा**- आठ प्रकार से (आठ रूपों से), **मे**- मेरी, **प्रकृति**- स्वरूप (पदार्थों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य या शक्ति), **भिन्ना**- विभक्त या बंटी हुई है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'ज्ञानविज्ञानयोग' नामक सप्तम अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने विषय में बता रहे हैं कि बहुत ही थोड़े मनुष्य हैं जो मुझे यथार्थ रूप से जान पाते हैं। तुम मेरे तत्व को जानो क्योंकि यह ज्ञान उत्तम फलदायक होने के कारण दुर्लभ है। इस प्रकार अपनी प्रकृति के विषय में अर्जुन को बताते हैं कि-

अनुवाद- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ रूपों में मेरी प्रकृति (पदार्थों को उत्पन्न करने की शक्ति) विभक्त है।

व्याख्या- प्रकृति अर्थात् ईश्वर की माया शक्ति आठ प्रकार की है, यह बताया गया है। ईश्वर की इस अष्टधा प्रकृति को 'अपरा' प्रकृति माना है। यह प्रकृति निकृष्ट अशुद्ध और अनर्थ करने वाली एवं संसारबन्धनरूपा है। यह अष्टधा अपरा प्रकृति जड़ रूप है। चेतन रूप प्रकृति ईश्वर की परा प्रकृति है जो कि जीवरूपा अर्थात् जो प्राणधारण की निमित तथा जिसके द्वारा समस्त जगत् धारण किया जाता है, यह परा प्रकृति है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह मेरी आत्मरूपा उत्तम और शुद्ध प्रकृति है। जड़ चेतन रूप इस सृष्टि का दर्शन ही ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन है। इसमें जड़ प्रकृति ईश्वर का अपर रूप है। चेतन जीव, ईश्वर का 'पर' रूप है परन्तु ईश्वर का स्वरूप 'पर' तथा अपर से परे है। यहां मन को भी अपरा प्रकृति का रूप माना है।

(iv) त्रिविध गुणों के धर्म एवं मन पर उनका प्रभाव

5. **महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।**
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।। (13/5)

6. **इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।**
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।। (13/6)

अन्वय- महाभूतानि, अहंकार, बुद्धिः अव्यक्तम् च एव दश इन्द्रियाणि एकम् च पञ्च च इन्द्रिय गोचराः। इच्छा, द्वेषः सुखम्-दुःखम् संघातः चेतना, धृतिः एतत् क्षेत्रम् सविकारम् समासेन उदाहृतम्।

शब्दार्थ- महाभूतानि- पंच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश), **अहंकार**- अहंकार, **बुद्धिः**- बुद्धि (महत् तत्त्व), **च**- और, **अव्यक्तम्**- मूल प्रकृति (प्रधान), **एव**- ही, **दश**- दस, **इन्द्रियाणि**- इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रियां) चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, त्वक्, नासिका, पांच कर्मेन्द्रियां- वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुदा), उपस्थ (जननेन्द्रिय), **एकम् च**- और एक मन, **च**- और, **पञ्च**- पांच, **इन्द्रियगोचराः**:- इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए जाने वाले (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श), **इच्छा**- इच्छा, **द्वेषः**:- द्वेष (शत्रुभाव), **सुखम्**- सुख, **दुःखम्**- दुःख, **संघातः**:- देह एवं इन्द्रियों का समूह (स्थूल देहरूपी पिण्ड), **चेतना**- चेतना (प्राणादि की व्यक्त चेष्टाएं), **धृतिः**:- धैर्य, **एतत्**- यह, **सविकारम्**- विकार सहित, **क्षेत्रम्**- क्षेत्र, **समासेन**- संक्षेप में, **उदाहृतम्**- कहा गया है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' नामक त्रयोदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- ईश्वर परा और अपरा प्रकृति से युक्त हुआ जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण होता है। ये दोनों प्रकृतियां क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूप हैं। इनमें क्षेत्र किसे कहते हैं और उसका स्वरूप क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

अनुवाद- पांच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त मूल प्रकृति, दस इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रियां- आंख, नाक, कान, जीभ और त्वचा: पांच कर्मेन्द्रियां- (वाक, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ- वाणी, हाथ, पैर, गुदा, जननेन्द्रिय) एक मन। इन्द्रियों के पांच विषय (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श), इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर का यह संघात-पिण्ड, चेतना यह संक्षेप में अपने विकारों सहित संक्षेप में 'क्षेत्र' कहा गया है।

व्याख्या- अर्जुन ने जब श्रीकृष्ण से यह जानना चाहा कि 'क्षेत्र क्या हैं'? क्षेत्रज्ञ क्या है? तो उसकी जिज्ञासा को पूर्ण करते हुए श्रीकृष्ण ने 'क्षेत्र'- का वर्णन किया और कहा-

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।" (13/1)

और फिर इसे विस्तार से स्पष्ट किया कि क्षेत्र में आत्मा तथा परमात्मा के अतिरिक्त सारा संसार आ जाता है। संसार में ब्रह्माण्ड की अव्यक्त प्रकृति तथा व्यक्त पांच महाभूत, पांच तन्मात्रा (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) और हमारा यह पिण्ड शरीर जिसमें अहंकार, बुद्धि, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां पांच ही इन्द्रियों के विषय आ जाते हैं। इन चौबीस तत्वों वाला ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड का क्षेत्र है। इसके साथ-साथ क्षेत्र के जो विकार हैं- इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख धृति आदि। ये मानसिक विकार शरीर तथा चेतना के संयोग से होते हैं। इस प्रकार क्षेत्र को जो जान लेता है वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है।

7. **सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।**
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।। (14/5)

अन्वय- महाबाहो, सत्त्वं, रजः तमः इति प्रकृतिसंभवाः गुणाः अव्ययम् देहिनम् देहे निबध्नन्ति।

शब्दार्थ- महाबाहो- हे विशाल भुजाओं वाले (अर्जुन), **सत्त्वम्**- सत्त्वगुण, **रजः**- रजोगुण, **तमः**- तमोगुण, **इति**- इस प्रकार, **प्रकृति सम्भवाः**- प्रकृति से उत्पन्न होने वाले, **गुणाः**- गुण, **अव्ययम्**- निर्विकार या अविनाशी, **देहिनम्**- जीवात्मा को, **देहे**- शरीर में, **निबध्नन्ति**- बांधते हैं।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चतुर्दश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- संसार का कारण प्रकृति में स्थित होना और गुणविषयक आसक्ति है ऐसा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया और फिर गुणत्रय का वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

अनुवाद- हे विशाल भुजाओं वाले (अर्जुन)! प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्व, रज और तम इस प्रकार प्रकृति से उत्पन्न होने वाले ये गुण इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बांध देते हैं।

व्याख्या- ईश्वर की माया से उत्पन्न सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण शरीर में स्थित अविनाशी आत्मा को बांध देते हैं अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने आत्मा को बांध लिया है क्योंकि आत्मा तो लिप्त नहीं होता तो उसे बांधा कैसे जा सकता है? इसलिए प्रतीति ही होती है। वस्तुतः आत्मा को आश्रय बनाकर ही ये गुण अपना स्वरूप प्रकट करने में समर्थ होते हैं क्योंकि रूप रस गन्धादि गुण द्रव्य के अधीन होते हैं। वैसे

ही ये सत्त्व, रजस्, तमस् गुण आत्मा के अधीन होते हैं और उसे अपना आश्रय बना लेते हैं। यहां महाबाहु विशेषण अर्जुन के लिए इसलिए प्रयुक्त किया गया है क्योंकि अर्जुन की भुजाएं सर्वशक्तियुक्त व घुटनों तक लम्बी है। अतः वह महाबाहु है।

8. **तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।**
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।। (14/6)

अन्वय- अनघ! तत्र सत्त्वे निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयम् सुखसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च बध्नाति।

शब्दार्थ- अनघ- निष्पापी (अर्जुन)! **तत्र**- उनमें (गुणों में), **प्रकाशक**- प्रकाश करने वाला, **अनामयम्**- रोग रहित करने वाला (स्वरूप करने वाला), **सत्त्वम्**- सत्त्व गुण, **निर्मलत्वात्**- निर्मल (स्वच्छ) होने के कारण, **सुखसंगेन**- सुख के प्रति आसक्ति होने के कारण, **ज्ञानसंगेन**- ज्ञान के प्रति आसक्ति होने के कारण, **च**- और, **बध्नाति**- बांधता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चतुर्दश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- गुणत्रय के विषय में बताते हुए श्रीकृष्ण सत्त्व गुण के लक्षण को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि-

अनुवाद- हे निष्पाप अर्जुन! इन गुणों में से सत्त्व गुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और आरोग्यकर है। यह (सत्त्व गुण) आनन्द और ज्ञान की आसक्ति के कारण मनुष्य को बांधता है।

व्याख्या- सत्व गुण का प्रथम लक्षण है निर्मलता अर्थात् किसी भी प्रकार का दोष न होना। जो व्यक्ति इस गुण से युक्त होता है उसका मन निर्मल होता है, छल कपट आदि मलों से रहित होता है। निर्मलता के कारण ही सत्त्व गुण प्रकाशक भी है अर्थात् सत्त्वगुणी व्यक्ति विशेष तेज से युक्त होता है तथा वह त्रिविध दु:ख रूपी रोगों से भी मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार निर्मल स्थान एवं निर्मल वस्त्र व्यक्ति के मन को प्रसन्न करते हैं और उसके मुखमण्डल पर चमक ला देते हैं, उसी प्रकार सत्त्व गुण भी निर्मलता के कारण प्रकाशक माना गया है। निर्मलता आरोग्यकारी भी है। प्रसन्नचित्त मानव नीरोग ही रहता है। सत्त्वगुण की निर्मलता से मनुष्य का चित्त प्रसन्न और बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश आ जाता है तो मनुष्य इस आनन्द और ज्ञान के प्रति आसक्त होकर सत्त्वगुण में बंध जाता है अर्थात् सत्त्वगुण का आश्रय ले लेता है।

9. रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।। (14.7)

अन्वय-कौन्तेय! रागात्मकं रजः तृष्णासङ्ग समुद्भवम् विद्धि। तत् देहिनम् कर्मसङ्गेन निबध्नाति।

शब्दार्थ- कौन्तेय- कुन्ती पुत्र (अर्जुन)! **रागात्मकम्**- राग से युक्त, **रजः**- रजो गुण को, **तृष्णासङ्गसमुद्भवम्**- लोभ की आसक्ति से उत्पन्न हुआ, **विद्धि**- जानो, **तत्**- वह, **देहिनम्**- आत्मा को (देहधारी आत्मा), **कर्मसङ्गेन**- कर्म के प्रति आसक्ति के कारण, **निबध्नाति**- बांधता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चतुर्दश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- सत्वगुण का लक्षण स्पष्ट करने के पश्चात् अब श्रीकृष्ण द्वितीय गुण रजो गुण का लक्षण बताते हैं-

अनुवाद- हे कुन्ती पुत्र (अर्जुन)! रागात्मक रजोगुण को तृष्णा के प्रति आसक्ति के कारण उत्पन्न हुआ समझो। वह (रजोगुण) कर्म के प्रति आसक्ति के कारण देहधारी आत्मा को बांधता है।

व्याख्या- रजोगुण का मूल, राग अर्थात् आसक्ति है। अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा को तृष्णा कहते हैं और प्राप्त विषयों में मन का लगाव (प्रेम) आसक्ति है। यह आसक्ति ही रजोगुण को उत्पन्न करती है। इस आसक्ति के कारण ही मनुष्य कर्म की ओर आकृष्ट होता है यही कर्म के प्रति आसक्ति देहधारी आत्मा को बांध लेती है अर्थात् मनुष्य का मन राग के कारण ही कर्मों के प्रति आकृष्ट होता जाता है। मनुष्य को किसी न किसी फल की इच्छा बनी रहती है और उस फल की चाह में वह आसक्त होकर कर्म करने लगता है। इस प्रकार से फलेच्छा पूर्वक कर्म करना रजोगुण के कारण होता है। सत्त्व गुणी तो "कर्म मेरा कर्त्तव्य है" यह मानकर निष्काम भाव से उसे करता है परन्तु रजोगुणी फलासक्त होकर कार्य में प्रवृत्त होता है। यही रजोगुण का स्वभाव है।

10. तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।। (14/8)

अन्वय- भारत! सर्वदेहिनाम् मोहनम् तमः तु अज्ञानजं विद्धि। तत् प्रमादालस्यनिद्राभिः निबध्नाति।

शब्दार्थ- भारत- हे भरतवंशी (अर्जुन)! **सर्वदेहिनाम्**- सभी शरीर धारण करने

वालों का, **मोहनम्**- भ्रम में डालने वाला, **तमः**- तमो गुण को, **तु**- तो, **अज्ञानजम्**- अज्ञान से उत्पन्न, **विद्धि**- जानो, समझो, **तत्**- वह (तमोगुण), **प्रमादालस्यनिद्राभिः**- लापरवाही, आलस और नींद के द्वारा, **निबध्नाति**- बांधता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चतुर्दश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- त्रिगुण का लक्षण करते हुए अब श्रीकृष्ण अन्तिम तमो गुण का स्वभाव इस प्रकार बताते हैं-

अनुवाद- हे भरतवंशी (अर्जुन)! सब देहधारियों को भ्रमित करने वाले तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न हुआ समझो। वह प्रमाद (लापरवाही) आलस्य और निद्रा के द्वारा बांध देता है।

व्याख्या- जीवों के अन्तःकरण में मोह अर्थात् अविवेक उत्पन्न करने वाला यह तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। मनुष्य की बुद्धि जब विवेक शून्य हो जाती है उसे यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि क्या अच्छा है? क्या बुरा है? यह अविवेक अज्ञानजन्य तमोगुण के कारण होता है। तमोगुण मनुष्य को लापरवाह, आलसी बनाकर उसे निष्क्रिय कर निद्रालु बना देता है। मनुष्य जब इस प्रकार से व्यवहार करे तो समझें कि उसमें तमोगुण आ गया है। तमोगुण की प्रबलता से ही सारे दुष्कर्म होते हैं। तमोगुण ज्ञान को आच्छादित कर मनुष्य को प्रमादी (आलसी) बना देता है।

11. सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।। (14/11)

अन्वय- यदा अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु प्रकाशः ज्ञानम् उपजायते तदा इति विद्यात् उत सत्त्वम् विवृद्धम्।

शब्दार्थ- यदा- जब, **अस्मिन्**- इस (में), **देहे**- शरीर में, **सर्वद्वारेषु**- सब द्वारों में, **प्रकाशः**- प्रकाश (रोशनी, चमक), **ज्ञानम्**- ज्ञान, **उपजायते**- उत्पन्न होता है, **तदा**- तब, **इति**- ऐसा, **विद्यात्**- जानो, **उत**- कि, **सत्त्वम्**- सत्त्व गुण, **विवृद्धम्**- बढ़ गया है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चतुर्दश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि सत्त्व गुण की पहचान कैसे होती है? वे कहते हैं-

अनुवाद- जब इस देह में (इन्द्रियों के) सब द्वारों में प्रकाश तथा ज्ञान का उदय हो जाता है तब ऐसा समझें कि सत्त्वगुण बढ़ गया है।

व्याख्या- यहां सत्त्व गुण के बढ़ने पर जो प्रतीति होती है उसे बताते हुए कहा है कि जब आंख, नाक, कान, जिह्वा व त्वचा, इन्द्रियां अपने-अपने विषयों देखना, सूंघना, सुनना, चखना, स्पर्श करना इन्हें सम्यक् रूप से ग्रहण करती हैं और उनके द्वारा गृहीत विषय भलीभांति प्रकाशित हो जाते हैं। जिसके फलस्वरूप उनका सम्यक् ज्ञान हो जाता है। तब यह समझना चाहिए कि सत्त्वगुण की अधिकता हो गई है। जैसा कि सत्त्वगुण का लक्षण भी है कि वह प्रकाशक, आनन्द व ज्ञान से युक्त होता है। जब यह सत्त्वगुण प्रबल नहीं होता तो इन्द्रियां भी अपने द्वार से विषयों को ग्रहण नहीं कर पाती। इस प्रकार सत्त्वगुणी व्यक्ति सर्वदा प्रसन्न एवं ज्ञानवान् होता है।

12. **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।**
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।। (14/12)

अन्वय- भरतर्षभ! रजसि विवृद्धे लोभः, प्रवृत्तिः कर्मणाम् आरम्भः अशमः स्पृहा एतानि जायन्ते।

शब्दार्थ- **भरतर्षभ**- भरतवंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन), **रजसिविवृद्धे**- रजोगुण के बढ़ने पर, **लोभः**- लालच, **प्रवृत्तिः**- रूचि (शौक), **कर्माणाम्**- कर्मों का, **आरम्भ**- आरम्भ (शुरूआत), **अशमः**- अशान्ति, **स्पृहा**- इच्छा (लालसा), **एतानि**- ये, **जायन्ते**- उत्पन्न हो जाते हैं।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चतुर्दश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- सत्त्व गुण की पहचान बताने के पश्चात् अब रजो गुण के विषय में बताते हैं कि कैसे यह ज्ञात हो कि रजोगुण बढ़ गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं-

अनुवाद- हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन) रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, रूचि, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति, इच्छा ये उत्पन्न हो जाते हैं।

व्याख्या- रजोगुण को स्पष्ट करते हुए जैसे पहले भी बताया जा चुका है कि लोभ राग के कारण रजोगुण होता है। इसमें देहधारी मनुष्य को कर्म के प्रति आसक्ति हो जाती है। यही रजोगुण के बढ़ने पर होता है। जैसे ही रजोगुण प्रबल होता है वैसे ही मनुष्य में लोभ उत्पन्न होता है फिर रूचि, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति तथा इच्छा उत्पन्न होती है। रागात्मक रजोगुण मनुष्य में भौतिक संसार की वस्तुओं के प्रति लोभ उत्पन्न करता है।

उसकी प्राप्ति से उनको और अधिक पाने की रूचि उत्पन्न होती है। फिर उसके अनुरूप कर्म प्रारम्भ किए जाते हैं। अनुकूल फल न मिलने पर अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। अनुकूल फल मिलने पर और अधिक इच्छा जागृत हो जाती है। मनुष्यों में प्रायः रजोगुण की ही अधिकता होती है।

13. **अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।**
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।। (14/13)

अन्वय- कुरुनन्दन! तमसि विवृद्धे अप्रकाशः, अप्रवृत्तिः च, प्रमादः मोहः च एतानि एव जायन्ते।

शब्दार्थ- **कुरुनन्दन**- हे अर्जुन, **तमसिविवृद्धे**- तमोगुण के बढ़ने पर, **अप्रकाशः**- प्रकाश का अभाव, **अप्रवृत्तिः**- अरुचि, **च**- और, **प्रमादः**- लापरवाही, **मोहः**- मूढता (मूर्खता), **च**- और, **एतानि**- ये, **एव**- ही, **जायन्ते**- उत्पन्न हो जाते हैं।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चतुर्दश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- तमोगुण के बढ़ जाने की पहचान क्या है? इसे बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

अनुवाद- हे कुरु-नन्दन! तमोगुण के बढ़ जाने पर प्रकाशहीनता, कार्य में प्रवृत्ति का न होना, लापरवाही तथा मूढ़ता ये ही उत्पन्न हो जाते हैं।

व्याख्या- तमोगुणी व्यक्ति तेजहीन हो जाता है। उसकी इन्द्रियां भी शिथिल हो जाती हैं। उसकी किसी भी कार्य को करने की इच्छा नहीं होती। वह आलसी हो जाता है। लापरवाही के कारण कोई भी काम ठीक से नहीं कर पाता। विवेकहीन होकर जीवन जीता है। यह सब तमोगुण के बढ़ जाने पर होता है। तमोगुण के कारण मनुष्य में सभी दोष आ जाते हैं। निष्क्रियता मनुष्य को मृतवत् कर देती है।

14. **सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।**
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।। (14/17)

अन्वय- सत्त्वात् ज्ञानं संजायते रजसः च लोभः एव तमसः च प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानम् एव।

शब्दार्थ- **सत्त्वात्**- सत्त्व गुण से, **ज्ञानम्**- ज्ञान, **संजायते**- उत्पन्न होता है, **रजसः**- रजोगुण से, **च**- और, **लोभः**- लालच, **एव**- ही, **तमसः**- तमो गुण से, **प्रमादमोहो**- लापरवाही, मूर्खता, **भवतः**- होते हैं, **अज्ञानम्**- अज्ञान, **एव**- ही।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत

के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चतुर्दश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- सत्त्व, रजस् और तमस् के गुणधर्म बताने के पश्चात् इन गुणों से क्या उत्पन्न होता है? उसे बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से लोभ ही (उत्पन्न होता है) तमोगुण से लापरवाही, मूढ़ता (उत्पन्न) होते हैं, (और) अज्ञान ही (उत्पन्न होता है)।

व्याख्या- यहां यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान का जनक सत्त्व गुण है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए सात्त्विक होना चाहिए। जिससे मनुष्य ज्ञान द्वारा अपने जीवन में सभी कार्य सम्यक् रूप से करने में सक्षम हो। यही प्रयास होना चाहिए कि सदा अच्छे विचार अच्छे कर्म करते हुए ज्ञानार्जन करें। लोभ का जनक रजोगुण है। लोभ के कारण ही मानव कर्म में प्रवृत्त होता है। लोभ की प्रवृत्ति के कारण रजोगुणी दुःखी और अशान्त रहता है। लापरवाही, विवेकहीनता एवं अज्ञान का जन्मदाता तमोगुण है। इसी गुण के कारण मानव जीवन में कष्ट भोगता है। अज्ञानी होने के कारण वह निर्णय करने में असमर्थ होता है। यह हानि-लाभ, अच्छे-बुरे को पहचानने में असमर्थ होता है।

गुणत्रयधर्म एवं उसका चित्त पर प्रभाव

आत्मप्रबन्धन के लिए गुणत्रय का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि इनका सम्बन्ध मनुष्य के चित्त से है। सत्त्व रजस् तमस् इन तीनों गुणों के धर्मों का स्वरूप विवेचन इसलिए किया गया है जिससे कि तीनों गुणों के विषय में सम्यक् जानकर मानव अपने जीवन में सम्यक् आचरण करे। गुणत्रय को समझना अन्तःकरण के प्रबन्धन के लिए अत्यावश्यक है क्योंकि सत्त्व गुण जैसे प्रकाशक आरोग्यकर कहा गया है। उससे ज्ञान उत्पन्न होता है तो ऐसे गुण के प्रबल होने पर ही मानव आत्मप्रबन्धित हो सकता है। उसे यह ज्ञान हो जाता है कि मुझे मन, वाणी, कर्म से कब कैसे क्या करना है? सत्त्वगुणी मानव सदा कर्तव्यनिष्ठ होकर सत्कर्म की ओर प्रवृत्त होता है और सफलता प्राप्त करता है। रजोगुण में लोभ होने के कारण मानव इसके द्वारा अपने को पूर्णतया आत्मप्रबन्धित कर सकने में असमर्थ होता है क्योंकि लोभ इच्छादि क्रोध को उत्पन्न करते हैं। क्रोध मनुष्य को मूढ़ बनाता है। परिणामतः मनुष्य आत्मसंयम रहित होकर अनुचित कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। इसलिए जब यह आभास हो कि रजोगुण की प्रबलता हो रही है, तभी मानव स्वयं को इससे मुक्त होने का प्रयास करे जिसके लिए इन्द्रिय निग्रह एवं मनोनिग्रह आवश्यक है। आत्म प्रबन्धन के लिए तमोगुण हानिकारक है। इसलिए तमोगुण के लक्षण जानकर

उसे अपने में प्रभावी नहीं होने देना चाहिए क्योंकि ये तीनों गुण मानव के चित्त पर अपना अलग-अलग प्रभाव डालते हैं। जैसा कि बताया गया है कि सत्त्व गुण चित्त को प्रसन्न रखता है। रजसगुण दुःखी और तमोगुण मूढ़ बनाता है। आत्म प्रबन्धन हेतु ज्ञान महत्वपूर्ण है और यह सत्त्वगुण के द्वारा ही संभव है।

वर्ग 'ब'
मनोनिग्रह - मानसिक-द्वन्द्व
प्रथम अन्विति

(i) मानसिक द्वन्द्वों का स्वरूप

15. **धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।**
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।। (1/1)

अन्वय- संजय। धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे युयुत्सवः समवेताः मामकाः पांडवाः च एव किम् अकुर्वत।

शब्दार्थ- संजय- हे संजय!, **धर्मक्षेत्रे-** पवित्र क्षेत्रे में, **कुरुक्षेत्रे-** कुरुक्षेत्र में, **युयुत्सवः-** युद्ध करने की इच्छा वाले, **समवेताः-** एकत्रित हुए, **मामकाः-** मेरे, **च-** और, **पाण्डवाः-** पाण्डु पुत्रों ने, **एव-** ही, **किम्-** क्या, **अकर्वुत-** किया।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'अर्जुनविषादयोग' नामक प्रथम अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- जब कुरूक्षेत्र में कौरवों और पाण्डवों का युद्ध प्रारम्भ होने वाला था तब धृतराष्ट्र वहां की घटनाओं को जानना चाहते थे क्योंकि वे स्वयं नहीं देख सकते थे इसलिए वे संजय से पूछते हैं कि -

अनुवाद- हे संजय! पुण्यक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा वाले एकत्रित हुए मेरे और पाण्डु पुत्रों ने क्या किया?

व्याख्या- कुरूक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा है कि क्योंकि यह पुण्यभूमि है। यहां अनुचित कार्य नहीं किए जाते। ऐसी भूमि पर युद्ध के लिए जो धृतराष्ट्र के पुत्र और पाण्डु पुत्र आए हैं, उन्होंने क्या किया? वस्तुतः धृतराष्ट्र की यह जिज्ञासा स्वाभाविक है क्योंकि यह युद्ध एक परिवार की पैतृक सम्पत्ति के कारण हो रहा है। सभी की परस्पर भावनाएं किसी न किसी रूप में जुड़ी हैं परन्तु दुर्योधन के कारण युद्ध की स्थिति उत्पन्न हुई है।

छल कपट के द्वारा राज्य छीनना उचित है या अनुचित? इसका निर्णय इस युद्ध के माध्यम से होना है। इस प्रकार धृतराष्ट्र संजय के माध्यम से कुरुक्षेत्र की घटनाओं की जानकारी लेते हैं।

16. **कर्मेति किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।**
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।। (4/16)

अन्वय- कर्म किम् अकर्म किम् इति अत्र कवयः अपि मोहिताः तत् कर्म ते प्रवक्ष्यामि यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे।

शब्दार्थ- कर्म- कार्य, **किम्-** क्या, **अकर्म-** अकार्य (जो कर्म नहीं है), **किम्-** क्या, **इति अत्र-** इस विषय में, **कवयः-** ज्ञानी, विद्वान्, **अपि-** भी, **मोहिताः-** भ्रमित हैं, **तत्-** वह, **कर्म-** काम, कार्य, **ते-** तुम्हें, **प्रवक्ष्यामि-** बताऊँगा, **यत्-** जिसे, **ज्ञात्वा-** जानकर, **अशुभात्-** अशुभ (बुराई) से, **मोक्ष्यसे-** मुक्त हो जाएगा।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'ज्ञानकर्मसन्यासयोग' नामक चतुर्थ अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- जव श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि जैसे पूर्वकाल में भी मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरूषों ने कर्म किए वैसे तुम भी कर्म करो। निष्क्रिय होकर रहना या संन्यास लेना तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं। यह सुनकर अर्जुन ने कहा कि मैं कर्म करने को तैयार हूं। तव श्रीकृष्ण कर्म के गहन विषय को वर्णित करते हुए कहते हैं-

अनुवाद- कर्म क्या है? अकर्म क्या है? इस विषय में विद्वान भी भ्रमित हैं। इसलिए कर्म (के विषय में) बताऊंगा जिसे जानकर (तुम) अशुभ से मुक्त हो जाओगे।

व्याख्या- मनुष्य के मन में यह द्वन्द्व या ऊहापोह रहता है कि उसके लिए क्या करना उचित है? क्या करना उचित नहीं है? यह द्वन्द्व विद्वानों को भी भ्रम में डाल देता है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि तुम्हारे अन्तःकरण में जो द्वन्द्व है वह स्वाभाविक है। परन्तु फिर भी तुम्हें निष्क्रिय नहीं होना चाहिए या फिर कर्त्तव्य को छोड़कर संन्यास नहीं लेना चाहिए। तुम्हें केवल कर्म ही करना चाहिए जैसे पूर्वकाल में मोक्ष की इच्छा रखने वाले महापुरूष भी लोककल्याण के लिए कार्य करते रहे। हमें अपने कर्त्तव्य का ही मुख्य रूप से पालन करते रहना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं तुम्हें जब यह बता दूंगा कि 'कर्म' क्या है तब तुम यह जानकर अशुभ से मुक्त हो जाओगे अर्थात् अनुचित कार्य में प्रवृत्त नहीं होगे और संसार से मुक्त हो जाओगे। इस प्रकार अर्जुन के कर्म विषयक

मानसिक द्वन्द्व का निराकरण यहां किया गया है। अर्जुन की भांति मानसिक द्वन्द्व की स्थिति से सामान्यतः सभी कभी न कभी गुजरते हैं। अतः यह उपदेश प्रत्येक मानव के लिए उपयोगी है कि कर्म ही करते रहना चाहिए और केवल देहादि के द्वारा की गई चेष्टाएं ही कर्म हैं, यह नहीं समझना चाहिए अपितु शास्त्राविहित जो क्रियाएं हैं वह कर्म हैं इस बात को जानना आवश्यक है।

17. अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।। (1/45)

अन्वय- अहो बत वयम् महत् पापं कर्तुं व्यवसिताः यत् राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुम् उद्यताः।

शब्दार्थ- अहो बत- अहो शोक है कि, **वयम्-** हम, **महत्-** महान् (बड़ा), **पापम्-** पाप को, **कर्तुम्-** करने के लिए, **व्यवसिताः-** प्रयत्नशील हो गए हैं, **यत्-** जोकि, **राज्यसुखलोभेन-** राज्य के सुख के लोभ के कारण, **स्वजनम्-** अपने सम्बन्धियों को, **हन्तुम्-** मारने के लिए, **उद्यताः-** तैयार हो गए हैं।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'अर्जुनविषादयोग' नामक प्रथम अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- पुण्यभूमि कुरूक्षेत्र में युद्ध के लिए तैयार अर्जुन सहसा ही शत्रुपक्ष में सम्बन्धियों व गुरुजनों के मोह में आकर युद्ध न करने का निश्चय करता है और शोकाकुल हो कहता है-

अनुवाद- अहो! दुःख है कि हम महान पाप करने के लिए (इस प्रकार) प्रयत्नशील हो गए हैं जोकि राज्य के सुख के लोभ के कारण अपने ही सम्बन्धियों (बन्धु बान्धवों) को मारने के लिए तैयार हो गए हैं।

व्याख्या- अर्जुन बन्धुबान्धवों के मोह के कारण शोकग्रस्त होकर उनके विरूद्ध युद्ध नहीं करना चाह रहा है क्योंकि वह समझ रहा है कि राज्य के सुख के लालच के कारण बन्धुबान्धवों के प्रति शस्त्र उठाना बहुत बड़ा पाप है। इस स्थिति में अर्जुन अपने क्षत्रिय धर्म से विमुख हो रहा है और शोक मोह के कारण कर्त्तव्य को नहीं समझ पा रहा। यहां ऐसी स्थिति है कि कर्त्तव्य पालन करे या बन्धुबान्धवों के प्रति स्नेहवश, कर्त्तव्य का पालन न करे। जब ऐसी विषम परिस्थिति होती है तब आत्मप्रबन्धन की विशेष भूमिका होती है। मनुष्य मनोनिग्रह द्वारा विवेकशक्ति से निर्णय करे कि इस समय उसे क्या करना श्रेयस्कर है? अर्जुन कर्त्तव्य का चिन्तन न करते हुए फल के विषय

में सोच रहा है इसलिए वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया है। अतः आत्मसंयम, मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह द्वारा आत्मप्रबन्धन करते हुए अर्जुन को कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।

18. न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखेधार्तराष्ट्राः।। (2/6)

अन्वय- एतद् च न विद्मः नः कतरत् गरीयः यद्वा जयेम यदि वा नः जयेयुः यान् हत्वा न जिजीविषामः ते एव धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः।

शब्दार्थ- एतत्- यह, **च-** और, **न-** नहीं, **विद्मः-** जानते हैं, **नः-** हमारे (लिए), **कतरत्-** कौन सा (कर्म करना), **गरीयः-** श्रेष्ठ है, **यत्-** कि, **वा-** या (अथवा), **जयेम-** (हम) जीतेंगे, **यदि वा-** या (अथवा), **नः-** हमें, **जयेयुः-** (वे) जीत लेंगे, **यान्-** जिन्हें (जिनको), **हत्वा-** मारकर, **न-** नहीं, **जिजीविषामः-** जीवित रहना चाहते हैं, **ते-** वे, **एव-** ही, **धार्तराष्ट्राः-** धृतराष्ट्र के पुत्र, **प्रमुखे-** सामने, **अवस्थिताः-** खड़े हैं।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि युद्ध न करने का तुम्हारा निर्णय तुम्हें कायरता की ओर ले जा रहा है। इस विषम समय में मोह वश जो तुमने निर्णय लिया है, वह अपयश को देने वाला है। अतः यह तुम्हें शोभा नहीं देता तुम उठो और युद्ध करो। यह सुनकर अर्जुन कहता है कि-

अनुवाद- और यह हम नहीं जानते कि हमारे लिए कौन सा (कर्म करना) श्रेष्ठ है, (पता नहीं इस युद्ध में) हम जीतेंगे या वे हमें जीत लेगें। जिन्हें मारकर हम जीवित रहना नहीं चाहते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं।

व्याख्या- अर्जुन युद्ध कर्म के फल की चिन्ता के वशीभूत होकर अपने मानसिक द्वन्द्व को इस प्रकार बता रहा है कि युद्ध का परिणाम कोई नहीं जानता। हम जीतेंगे या कौरव। परन्तु इतना मैं अवश्य जानता हूं कि युद्ध में जिन्हें मारकर फिर हम जीवित रहने की इच्छा नहीं करेंगे वे धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने युद्धभूमि में खड़े हैं। अर्जुन अपने सरल स्वभाव से श्रीकृष्ण के समक्ष अपने विषाद को प्रकट कर रहा है। वह मानता है कि ऐसे कर्म का क्या लाभ जिसके द्वारा अपने ही बन्धुबान्धवों का नाश हो। दुर्योधन और अर्जुन के चिन्तन में यही अन्तर है। अर्जुन सहृदय एवं सरल स्वभाव के कारण ऐसी मनोदशा को प्राप्त हो रहा है। ऐसी मनोदशा में मनोनिग्रह परमावश्यक है और

आत्मप्रबन्धन भी। तभी मनुष्य अपने कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर होगा अन्यथा निष्क्रिय होकर विषादग्रस्त ही रहेगा।

(ii) मानसिकद्वन्द्व के निमित्त तथ्य (कारण)

(क) अज्ञान

19. **व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरूनन्दन।**
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।। (2/41)

अन्वय- कुरूनन्दन! इह व्यवसायात्मिका बुद्धिः एका हि च अव्यवसायिनाम् बुद्धयः बहुशाखाः अनन्ताः।

शब्दार्थ- कुरुनन्दन- हे कुरुवंशज (अर्जुन), **इह-** यहां, **व्यवसायात्मिका-** निश्चय स्वभाव वाली, **बुद्धिः-** बुद्धि, **एका-** एक ही है, **हि-** निश्चित रूप से, **च-** और, **अव्यवसायिनाम्-** निश्चय पूर्वक कार्य न करने वालों की, **बुद्धयः-** बुद्धियां, **बहुशाखाः-** बहुत भेदों वाली, **अनन्ताः-** अन्त हीन (असंख्य)।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सांख्य के विषय में जो बुद्धि अर्थात् ज्ञान बताया उससे परमार्थ वस्तु की पहचान व संसार के कारण जो शोक मोहादि दोष हैं, उनकी निवृत्ति होती है। अब अर्जुन को योग के विषय में जो बुद्धि अर्थात ज्ञान है, उसका वर्णन करते हुए कहते है -

अनुवाद- हे कुरुनन्दन! यहां (कर्मयोग के इस मार्ग में) निश्चय स्वभाव वाली बुद्धि तो एक ही है। निश्चय पूर्वक कार्य न करने वाले लोगों की बुद्धियां तो अनेक भेदों वाली और अनन्त (असंख्य) होती हैं।

व्याख्या- व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् प्रयत्न परक निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है। अभिप्राय यह है जो बुद्धि कर्म के प्रति प्रयत्नशील है वह एक है अर्थात् निश्चयात्मिका है परन्तु जो अव्यवसायी अर्थात् कर्मनिष्ठ नहीं हैं, उनकी बुद्धि अनेक षाखाओं वाली और अनन्त होती है अर्थात् उनकी एक निश्चित सोच नहीं होती। पल-पल उनके विचार परिवर्तित होते रहते हैं जिस प्रकार वृक्ष की अनेक षाखाएं होती हैं वैसे ही उनके विचार होते हैं। वह किसी एक निश्चय पर नहीं पहुंच पाते और उनके चिन्तन का कोई अन्त नहीं होता। श्रीकृष्ण अर्जुन को यह उपदेश इसलिए दे रहे हैं

क्योंकि अर्जुन की बुद्धि भी बहुशाखा वाली व अनन्त हो रही है। ज्ञान के अभाव के कारण वह निश्चयात्मिक बुद्धि से भिन्न व्यवहार कर रहा है। इसलिए वह मानसिक द्वन्द्व में फंसा है। अर्जुन को इस स्थिति से निकालने के लिए ही व्यवसायात्मिका बुद्धि के विषय में बताया जा रहा है। जिसको जानकर आत्मसंयम द्वारा वह अपने कर्त्तव्य को पूरा करे।

(ख) इन्द्रियाँ

20. **यततो ह्यपि कौन्तेय पुरूषस्य विपश्चितः।**
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसंभं मनः।। (2/60)

अन्वय- कौन्तेय! हि यततः विपश्चितः पुरूषस्य अपि मनः प्रमाथीनि इन्द्रियाणि प्रसभम् हरन्ति।

शब्दार्थ- कौन्तेय- हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन)! **हि-** क्योंकि, **यततः-** प्रयत्नशील (के), **विपश्चितः-** विद्वान, विवेकशील (के), **पुरुषस्य-** पुरुष के, **अपि-** भी, **मनः-** मन को, **प्रमाथीनि-** बहुत मथ देने वाली (झकझोरने वाली), **इन्द्रियाणि-** इन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां), **प्रसभम्-** बलपूर्वक, **हरन्ति-** हर लेती है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण ने कहा कि वास्तविक ज्ञानस्वरूप बुद्धि की स्थिरता के लिए अर्थात् स्थित प्रज्ञ होने के लिए इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है क्योंकि -

अनुवाद- हे कुन्ती पुत्र! निश्चित रूप से प्रयत्नशील विद्वान मनुष्य के भी मन को मथ देने वाली इन्द्रियां बलपूर्वक (विषयों की ओर) खींच लेती हैं।

व्याख्या- यहां श्रीकृष्ण अर्जुन को यह बताना चाहते हैं कि स्थितप्रज्ञ होना बहुत सरल नहीं है क्योंकि इन्द्रियां इतनी बलशाली होती हैं कि वे संयम के लिए प्रयासरत ज्ञानवान मनुष्य के मन को विषयों की ओर बलपूर्वक ले जाती है। जैसा कि हम जानते हैं कि योगी तपस्वी लोग भी वाह्य आकर्षण के कारण अपने मन को वश में न करके इन्द्रियों द्वारा विषय वासना की ओर आकृष्ट होकर अपने योग से भ्रष्ट हो गए। अतः मनरूपी लगाम इन्द्रिय रूपी घोड़ों पर सर्वदा कसी हुई होनी चाहिए, जिससे कि इन्द्रियां मन को विषयों की ओर न ले जाए अपितु मन बुद्धि के आदेश पर इन्द्रियां कार्य करे। यह निरन्तर अभ्यास से ही संभव हो सकता है। आत्मप्रबन्धन में इन्द्रिय-निग्रह परमावश्यक है, नहीं तो मनुष्य आत्मप्रबन्धन में सफल नहीं हो सकेगा। उचित समय पर उचित व

विहित कार्य करना यह आत्मप्रबन्धन से ही संभव है। जिस मनुष्य की इन्द्रियां अभ्यास बल से उसके वश में हैं उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठित होती है और वह स्थित प्रज्ञ कहलाता है।

(ग) मन

21. **इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।**
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। (2/67)

अन्वय- हि चरताम् इन्द्रियाणाम् यत् मनः अनुविधीयते। तत् अस्य प्रज्ञा वायुः अम्भसि नावम् इव हरति।

शब्दार्थ- हि- निश्चित रूप से जैसे, **चरताम्-** (विषयों में) विचरण करती हुई, **इन्द्रियाणाम्-** इन्द्रियों के मध्य, **यत्-** जो, **मनः-** मन, **अनुविधीयते-** (इन्द्रियों का) अनुसरण करता रहता है, **तत्-** वह, **अस्य-** इसकी (पुरुष की), **प्रज्ञां-** बुद्धि को, **वायुः-** वायु, **अम्भसि-** जल में, **नावम् इव-** नौका के समान, **हरति-** हर लेती है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- विषयों में प्रवृत्त इन्द्रियां अर्थात् विषयों का सेवन करती हुई इन्द्रियां मन को कैसे अपनी ओर खींच लेती हैं और उसका फल क्या होता है? इस विषय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- निश्चित रूप से जैसे विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों के मध्य जो मन अनुसरण करने लगता है वह इसकी (पुरुष की) बुद्धि को हर लेता है जैसे जल में चलने वाली नौका को वायु (अपने अनुसार) खींच लेती है।

व्याख्या- जब मन सांसारिक विषयों में भटकती हुई इन्द्रियों के पीछे जाने लगता है तब वह मनुष्य की बुद्धि को हर लेता है जैसे वायु जल में नाव को बहा ले जाती है। इसलिए मनोनिग्रह आवश्यक है। मनरूपी लगाम ढीली होने के कारण इन्द्रिय रूपी घोड़े भटकने लगेंगे और फिर वे मन को भी अपने अनुसार चलाएंगे। इन्द्रिय निग्रह के लिए मन का शक्तिशाली होना आवश्यक है। जैसे लगाम ढीली होने पर सारथी भी घोड़ों के वश हो जाता है और वह उसे अपनी ओर खींचते है वैसे ही यदि मन वश में नहीं होगा तो इन्द्रियां उसे अपनी ओर खीचेंगी और बुद्धि का भी हरण कर लेंगी। जैसे कि जल में चलती हुई नौका को वायु अपनी दिशा की ओर ले जाती है।

यहां श्रीकृष्ण अर्जुन को यह बताना चाह रहे हैं कि मनोनिग्रह इन्द्रिय निग्रह सरल तो नहीं परन्तु असंभव भी नहीं है।

22. **अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरूषः।**
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। (3/36)

अन्वय- वार्ष्णेय! अथ-केन प्रयुक्तः अयम् पूरूषः अनिच्छन् अपि बलात् इव नियोजितः पापं चरति।

शब्दार्थ- वार्ष्णेय- हे वृष्णि वंश में उत्पन्न (कृष्ण)! **अथ-** फिर, तो, **केन-** किसके द्वारा, **प्रयुक्तः-** लगाया हुआ, **अयम्-** यह, **पूरूषः-** पुरूष (मनुष्य), **अनिच्छन्-** न चाहते हुए, **अपि-** भी, **बलात्-इव-** मानों बलपूर्वक (जबरदस्ती), **नियोजितः-** नियुक्त किया गया (लगाया गया मनुष्य), **पापम्-** पापकर्म (का), **चरति-** आचरण करता रहता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम कर्म करते रहने का उपदेश दिया तथा कहा कि सदा सत्कर्म ही करते हुए अपने धर्म का पालन करना चाहिए। यह सुनकर अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछता है कि -

अनुवाद- हे वार्ष्णेय (वृष्णि यादवों के कुल में उत्पन्न कृष्ण!) तो यह मनुष्य न चाहता हुआ भी बलपूर्वक (जबरदस्ती) लगाए हुए की तरह किससे (प्रेरित होकर) पाप का आचरण करता है।

व्याख्या- श्रीकृष्ण के वचनामृत सुनकर अर्जुन के मन में यह जिज्ञासा हुई कि कोई भी मनुष्य नहीं चाहता कि वह पापकर्म करें परन्तु फिर भी वह करता है तो किस कारण से ऐसा वह करता है? ऐसा प्रतीत होता है कि उसे इस पापकर्म में जबरदस्ती कोई लगा रहा है, वह मन से नहीं चाहता कि पापकर्म करे। वस्तुतः यह बात सभी के मन में आती है कि सब कुछ जानते हुए समझते हुए तथा न चाहते हुए भी मनुष्य पापकर्म क्यों करता है? क्योंकि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जो भी पापकर्म होता है वह छिप के किया जाता है और करने वाले के मन में भय रहता है। फिर भी कौन सी ऐसी विवशता व शक्ति है जोकि पापकर्म करवाती है। यह जिज्ञासा केवल अर्जुन की ही नहीं अपितु सभी की ही है। इसका कारण जानना आवश्यक है जिससे कि उसे दूर कर सत्कर्म करने का प्रयास किया जाए।

(घ) रजोगुण

23. **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।**
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। (3/37)

अन्वय- रजोगुण समुद्भवः एषः कामः क्रोधः एषः महाशनः महापाप्मा इह एनम् वैरिणम् विद्धि।

शब्दार्थ- **रजोगुणसमुद्भवः**:- रजोगुण से उत्पन्न, **एषः**:- यह, **कामः**:- कामना (भौतिक सुख साधनों को प्राप्त करने की इच्छा), **एष**- यह, **क्रोधः**:- गुस्सा, **महाशनः**:- बहुत बड़ा खाने वाला (भक्षक), **महापाप्मा**- बहुत बड़ा पापी, **इह**- यहां (पाप कर्म में प्रेरित करने में), **एनम्**- इसे (काम व क्रोध को), **वैरिणम्**- शत्रु, **विद्धि**- समझो या जानो।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- मनुष्य न चाहते हुए भी पापकर्म में प्रवृत्त क्यों होता है? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं–

अनुवाद- रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम (इच्छा) यह क्रोध बहुत खाने वाला व बड़ा पापी है। इस संसार में (पाप कर्म में प्रेरित करने में) इसको (काम व क्रोध को) शत्रु समझो।

व्याख्या- प्रत्येक कर्म के मूल में कामना अर्थात् भौतिक सुख साधनों को प्राप्त करने की इच्छा होती है। पापकर्म भी कामना मूलक है। यह कामना रजोगुण से उत्पन्न होती है क्योंकि रजोगुण रागात्मक कर्मासक्ति से युक्त होता है। काम व क्रोध बहुत बड़े भोगी है इनके वशीभूत होकर मनुष्य की इच्छाएं कभी समाप्त नहीं होती। जितनी इच्छापूर्ति करते रहो वे बढ़ती ही जाती हैं। जैसा कि कहा है कि कामनाएं कामनाओं के भोग से शान्त नहीं होती हैं जैसे अग्नि में घी डालने से अग्नि और अधिक प्रज्वलित हो जाती है वैसे ही कामनाएं भी बढ़ती जाती हैं। इसलिए इसे महाशन कहा है क्योंकि कभी तृप्त नहीं होती है और कामनाएं पूर्ण नहीं होती तो क्रोध बढ़ता है और मनुष्य पाप कर्म में प्रवृत्त हो जाता है अतः काम और क्रोध को "महापाप्मा" कहा है। गीता में ही कहा है- "संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते।"

इस प्रकार पापकर्म का मूल काम एवं क्रोध है।

24. धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृत्तम्।। (3/38)

अन्वय- यथा धूमेन वह्निः, मलेन आदर्शः यथा च उल्वेन गर्भः आव्रियते तथा तेन इदम् आवृतम्।

शब्दार्थ- **यथा**- जिस प्रकार, **धूमेन**- धूंए से, **वह्निः**:- अग्नि, **मलेन**- मैल या धूल से, **आदर्शः**:- दर्पण, **यथा**- जिस प्रकार, **च**- और, **उल्वेन**- जरायु से, **गर्भः**:- गर्भ में स्थित जीव, **आव्रियते**- ढका रहता है, **तथा**- वैसे ही या उसी तरह, **तेन**- उसके द्वारा (काम के द्वारा), **इदम्**- यह (ज्ञान), **आवृतम्**- ढका हुआ है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- पापकर्म के मूल काम के विषय में बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं–

अनुवाद- जैसे धुएं से अग्नि, मैल से दर्पण, जैसे ज़ेर से गर्भ ढका रहता है वैसे ही उससे (काम से) यह (ज्ञान) ढका रहता है।

व्याख्या- काम के वशीभूत होकर मनुष्य ज्ञान से विमुख हो जाता है। मानों काम के आवरण ने ज्ञान को ढक दिया है। जैसे अग्नि की लौ धुएं की अधिकता के कारण दिखाई नहीं देती। विद्यमान तो होती है तभी धुआं निकलता है पर धुएं का आवरण इतना घना होता है कि अग्नि को ढक लेता है। दर्पण में भी धूल-मिट्टी का आवरण होने से दर्पण की प्रतिविम्ब्वता शक्ति कम हो जाती है। गर्भस्थ जीव भी जेर से ढका होता है उसी तरह कामना के द्वारा ज्ञान को ढक दिया जाता है। मनुष्य कामना के कारण विवेक शक्ति को खो बैठता है। ज्ञान तो होता है परन्तु कामना के आवरण के कारण उसका प्रयोग नही कर पाता। इस प्रकार काम रूप शत्रु मनुष्य की हानि करता है।

25. आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।। (3/39)

अन्वय- कौन्तेय ! एतेन दुष्पूरेण च अनलेन कामरूपेण नित्यवैरिणा ज्ञानिनः ज्ञानम् आवृतम्।

शब्दार्थ- **कौन्तेय**- हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन), **एतेन**- इस से, **दुष्पूरेण**- कठिनता से पूरा होने वाले के द्वारा, **च**- और, **अनलेन**- अग्नि द्वारा, **कामरूपेण**- कामना रूपी के द्वारा, **नित्यवैरिणा**- सदा शत्रुरूप के द्वारा, **ज्ञानिनः**:- ज्ञानी का, **ज्ञानम्**- ज्ञान, **आवृत्तम्**- ढका हुआ है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- ज्ञान के वैरी (शत्रु) काम के ही विषय में बताते हुए कह रहे हैं कि -

अनुवाद- हे कुन्ती पुत्र ! कठिनाई से पूरा होने वाले, अग्नि स्वरूप कामना रूप नित्यवैरी इसके द्वारा ज्ञानी के ज्ञान को ढक दिया गया है।

व्याख्या- यहां काम को दुष्पूर एवं अनल कहा है क्योंकि काम की पूर्ति बहुत कठिन है। अनल अर्थात् अग्नि को भी रोकना कठिन है। कामना अत्यधिक कष्ट से पूरी होती है तथा यह अनल के समान भोगों से भी तृप्त नहीं होती। अपितु बढ़ती जाती है जैसा कि कहा गया है-

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयः एवाभिवर्धते।।

यह कामना ज्ञान का शत्रु होती है और इसके द्वारा ज्ञान को ढक दिया जाता है। उस पर अतिक्रमण कर लिया जाता है। जैसा कि हम देखते हैं कि कामस्वरूप वासना आदि के वशीभूत होकर महान ज्ञानी जन भी अकर्म अर्थात् पापकर्म कर देते हैं। ऐसी स्थिति में इन्द्रिय संयम की अत्यन्त आवश्यकता होती है। अपने को संयमित रखते हुए ही मनुष्य काम क्रोध से मुक्ति प्राप्त कर सकता है, यह आत्मप्रबन्धन का प्रथम सोपान है।

26. **त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।**
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्।। (16/21)

अन्वय- कामः, क्रोधः तथा लोभः इदम् त्रिविधम् नरकस्य द्वारम् आत्मनः नाशनम्। तस्मात् एतत् त्रयम् त्यजेत्।

शब्दार्थ- **कामः**- इच्छा, **क्रोधः**- गुस्सा, **तथा**- एवम्, **लोभः**- लालच, **इदम्**- यह, **त्रिविधम्**- तीन प्रकार का, **आत्मनः**- आत्मा का, **नाशनम्**- नाश करने वाला, **नरकस्य**- नरक का, **द्वार**- दरवाजा (प्रवेश स्थान), **तस्मात्**- इसलिए, **एतत्**- इस (को), **त्रयम्**- तीन को (काम, क्रोध और लोभ), **त्यजेत्**- छोड़ दें।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'संपद्विभागयोग' नामक षोडश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- दैवी व आसुरी प्रकृति के विषय में बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी प्रकृति से मनुष्य को दूर रहना चाहिए क्योंकि -

अनुवाद- काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं, जो आत्मा के नाशक हैं। इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

व्याख्या- तमोगुण की बहुलता के कारण आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य मूढ़ अविवेकी होते हुए अधम गति को प्राप्त करते हैं और उन्हें उस नरक की ओर ले जाने वाले तीन द्वार (दरवाजे) काम, क्रोध और लोभ हैं। इन द्वारों में प्रवेश करने से आत्मा का नाश हो जाता है अर्थात् मनुष्य किसी पुरूषार्थ के योग्य नहीं रहता। आसुरी प्रकृति वाला मनुष्य सांसारिक विषय वासनाओं का चिन्तन करता है। फिर उनके प्रति उसका संग हो जाता

है और उनकी प्राप्ति की कामना जागृत होती है। जब कामना पूर्ण नहीं होती तो क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मानव भ्रमित हो जाता है। मूढ़ता आ जाती है। स्मृतिभ्रंश होकर बुद्धि का नाश होता है। परिणामतः आत्मा का नाश हो जाता है। इसलिए काम, क्रोध व लोभ वाले नरक के इन तीन द्वारों में प्रवेश ही नहीं करना चाहिए। ये मनुष्य को विचलित करते हैं और उससे आत्मप्रबंधन नहीं हो पाता। इस प्रकार आत्मप्रबंधन के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह काम, क्रोध तथा लोभ का त्याग कर, स्थितप्रज्ञ होकर कर्त्तव्यनिष्ठ बने।

(ङ) मन की दुर्बलता

27. **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।**
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।। (2/3)

अन्वय- पार्थ! क्लैब्यं मा स्म गमः। एतत् त्वयि न उपपद्यते। परंतप! क्षुद्रम् हृदयदौर्बल्यम् त्यक्त्वा उत्तिष्ठ।

शब्दार्थ- **पार्थ**- हे पृथा पुत्र (अर्जुन)!, **क्लैब्यम्**- नपुंसकता को, **मा**- मत, **स्मगमः**- प्राप्त हो, **एतत्**- यह (नपुंसकता), **त्वयि**- तेरे विषय में, **न**- नहीं, **उपपद्यते**- उचित है, **परन्तप**- शत्रुओं को कष्ट देने वाले (हे अर्जुन), **क्षुद्रम्**- तुच्छ, **हृदयदौर्बल्यम्**- हृदय की दुर्बलता को, **त्यक्त्वा**- छोड़कर, **उत्तिष्ठ**- उठो (युद्ध करने के लिए)।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- जब कुरूक्षेत्र की युद्ध भूमि पर दोनों सेनाओं को देखकर बान्धुबान्धवों के प्रति मोहग्रस्त होकर अर्जुन ने कहा कि मैं युद्ध नहीं करूंगा तब श्रीकृष्ण उसे समझाते हुए कहते हैं कि -

अनुवाद- हे पृथा के पुत्र (अर्जुन)! नपुसंकता को प्राप्त मत हो। यह तुम पर उचित नहीं है। हे शत्रुतापन! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को छोड़कर (युद्ध के लिए) खड़े हो जाओ।

व्याख्या- अपने कर्त्तव्य से विमुख होना नपुसंकता या कायरता होती है। अर्जुन भी युद्ध नहीं करना चाहता है क्योंकि वह अपने गुरूजनों और बन्धु बान्धवों के प्रति शस्त्र उठाना नहीं चाहता। अपने हाथों से उनका वध नहीं करना चाहता। उसके इस निर्णय को सुनकर श्रीकृष्ण उसे समझाते हुए कहते हैं कि तुझ धनुर्धारी क्षत्रिय के लिए युद्ध न करना उचित नहीं है। क्षत्रिय होकर युद्ध से मुंह मोड़ना नपुसंकता या कायरता है। यह तुम्हारे हृदय की दुर्बलता को बता रहा है। इसलिए अपने मन को दृढ़ करके अपना

कर्त्तव्य समझते हुए तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। अर्जुन की भांति ऐसी स्थिति कई बार मनुष्य की हो जाती है, वह जिस काम के लिए तत्पर होता है उसे किसी कारण से छोड़ देता है और पूरा नहीं करता। अपने कर्त्तव्य को छोड़ना पलायन है। इसे कायरता कहा जाता है। इसलिए स्थित प्रज्ञ होकर मन की तुच्छता को त्याग कर कर्म करना चाहिए।

28. **बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।**
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।। (4/5)

अन्वय- अर्जुन! मे तव च बहूनि जन्मानि व्यतीतानि। परतंप! तानि सर्वाणि अहं वेद त्वम् न वेत्थ।

शब्दार्थ- अर्जुन- हे अर्जुन!, **मे-** मेरे, **तव-** तुम्हारे, **च-** और, **बहूनि-** बहुत से, **जन्मानि-** अनेक जन्म, **व्यतीतानि-** बीत गए, **परंतप-** शत्रुओं को तपाने वाले, **तानि-** उन (को), **सर्वाणि-** सब को, **अहं-** मैं, **वेद-** जानता है, **त्वम्-** तुम, **न-** नहीं, **वेत्थ-** जानते हो।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'ज्ञानकर्म सन्यास योग' नामक चतुर्थ अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया कि आपका जन्म विवस्वान् के बाद हुआ है इसलिए यह मैं कैसे मान लूं कि आदिकाल में इस योग को बताया था? इसका उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं -

अनुवाद- हे अर्जुन! मेरे और तेरे भी बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं। हे परंतप (शत्रुओं के तपाने वाले) उन सब (जन्मों को) को मैं जानता हूं तुम नहीं जानते हो।

व्याख्या- ईश्वर सर्वज्ञ होता है। श्रीकृष्ण भी ईश्वर है अत: वह सर्वज्ञ हैं। इसलिए इस जन्म से पूर्व उन्होंने योगज्ञान पहले विवस्वान् (सूर्य) को भी दिया था। श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि मैंने और तुमने अनेक बार जन्म लिया है। मुझमें और तुममें यही अन्तर है कि मैं प्रत्येक जन्म को जानता हूं पर तुम नहीं जानते। इसका कारण यह है कि पाप-पुण्य आदि के संस्कारों से तुम्हारी ज्ञान शक्ति ढक गई है। मैं तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला हूं, इस कारण मेरी ज्ञान शक्ति आवरण रहित है अर्थात् ढकी हुई नहीं। इसलिए हे शत्रु को तपाने वाले अर्थात् कष्ट देने वाले अर्जुन मैं सब कुछ जानता हूं।

द्वितीय अन्विति
मनोनिग्रह के साधन

(i) ध्यान व बाधाएं

29. **चंचल हि मन: कृष्ण प्रमाथि-बलवद् दृढ़म्।**
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। (6/34)

अन्वय- कृष्ण! हि मन: चंचलम् बलवत्-दृढ़म् प्रमाथि तस्य निग्रहम् अहम् वायो: इव सुदुष्करम् मन्ये।

शब्दार्थ- कृष्णा:- हे कृष्ण!, **हि-** निश्चित रूप से, **मन:-** मन, **चंचलम्-** चंचल, **बलवत्-** बलशाली, **दृढ़म्-** दृढ़ (हठी), **प्रमाथि-** मथने वाला (झकझोरने वाला), **तस्य-** उसका (मन का), **निग्रहम्-** वश में करना, **अहम्-** मैं, **वायो:-** वायु के, **इव-** समान, **सुदुष्करम्-** अत्यन्त कठिन, **मन्ये-** मानता हूं।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'ध्यानयोग' नामक षष्ठ अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समत्व योग के विषय में बताया। यह सुनकर अर्जुन ने कहा कि-

अनुवाद- हे कृष्ण! निश्चय रूप से मन चंचल, बलशाली, दृढ़ तथा झकझोरने वाला है उसका निग्रह वायु के समान अत्यधिक कठिन है, ऐसा (मैं) मानता हूं।

व्याख्या- मनोनिग्रह आत्मप्रबन्धन के लिए आवश्यक है। मन को वश में करने के लिए श्रीकृष्ण ने समत्व योग के विषय में बताया। उन्होंने कहा कि जो व्यक्ति, सुख हो या दु:ख हो उसमें समान भाव से रहता है तथा अपने जैसे सबको समभाव से देखता है वह परमयोगी है। समत्व योग क्या है? इसे बताते हुए श्रीकृष्ण ने कहा-

योगस्थ: कुरू कर्माणि संगं व्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

यह सुनकर अर्जुन कहता है कि इस योग के लिए मन को स्थिर रखना कठिन है क्योंकि मन बहुत चंचल है। एक पल यहां है? दूसरे पल वहां है। मन संसार की वासनाओं के कारण चंचल दिखाई देता है। यह मानव को भ्रमित कर देता है। द्वन्द्वात्मक स्थिति में डाल देता है। क्या करना चाहिए क्या नहीं? क्या उचित है क्या अनुचित? ऐसी मनोदशा हो जाती है मन इतना बलवान् दृढ़ है कि इसका निग्रह अर्थात् वशीकरण इतना कठिन है जैसे वायु को वश में करना बहुत कठिन होता है।

30. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। (6/35)

अन्वय- महाबाहो! असंशयम् मनः चलम् दुर्निग्रहम्। तु कौन्तेय! अभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते।

शब्दार्थ- महाबाहो- हे विशाल भुजाओं वाले (अर्जुन), **असंशयम्-** निःसंदेह, **मनः-** मन, **चल-** चंचल, **दुर्निग्रहम्-** कठिनता से वश में होने वाला, **तु-** किन्तु, **कौन्तेय-** हे कुन्ती पुत्र (अर्जुन)! **अभ्यासेन-** अभ्यास के द्वारा, **च-** और, **वैराग्येण-** वैराग्य के द्वारा, **गृह्यते-** पकड़ किलया जाता है (वशीभूत किया जाता है)।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्त्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्‌भगवद्‌गीता" के 'ध्यान योग' नामक षष्ठ अध्याय से उद्‌धृत है।

प्रसंग- अर्जुन ने जब कहा कि मन को वश में करना बहुत कठिन है तब श्रीकृष्ण उसका उपाय बताते हुए कहते हैं कि-

अनुवाद- हे महाबाहु! निस्सन्देह मन तो चंचल और कठिनता से वश में किया जाने वाला है। हे कुन्ती पुत्र! अभ्यास और वैराग्य से (इसका) निग्रह किया जाता है।

व्याख्या- श्रीकृष्ण अर्जुन से पूर्णतया सहमत थे कि मन चंचल है और इसे वश में करना कठिन है परन्तु वे इसे असंभव नहीं मानते। श्रीकृष्ण कहते हैं कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन का निग्रह संभव है। हमारा मन जब इन्द्रियों के वशीभूत होकर विषयों की ओर जाता है तब हमें उसे विषयों से हटाना चाहिए। जैसे मन चाहता है कि वह अच्छी वस्तुओं का भोग करें और वह इन्द्रियों द्वारा उनका भोग करता है परन्तु यदि मानव अपने मन को इन भोग विषयों से दूर करने का अभ्यास करता है और जो विषय मन के निग्रह में बाधक होते हैं, उनसे विरक्त होकर कार्य करता है तो धीरे-धीरे मन पर नियंत्रण होगा। यह कार्य क्षणभर में होना कठिन है। इसका निरंतर अभ्यास किया जाना चाहिए और सांसारिक भोग वासनाओं के प्रति वैराग्य होना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास

और वैराग्य मनोनिग्रह के उपाय हैं। योगदर्शन में भी चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय अभ्यास और वैराग्य को ही बताया है- "अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः"।

(ii) विधि

31. शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोत्तरम्।। (6/11)

32. तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविशयासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।। (6/12)

अन्वय- शुचौ देशे न अति उच्छ्रितं न अतिनीचम् चैलाजिनं कुशोत्तरम् स्थिरं आत्मनः आसनम् प्रतिष्ठाप्य, तत्र आसने उपविश्य यतचित्तेन्द्रियक्रियः मनः एकाग्रं कृत्वा आत्मविशुद्धये योगम् युञ्ज्यात्।

शब्दार्थ- शुचौ- पवित्र में, **देशे-** स्थान में, न अति **उच्छ्रितम्-** न अधिक ऊंचा, **न अतिनीचम्-** न अत्यधिक नीचा, **चैलम्-** वस्त्र, **अजिनं-** मृगचर्म, **कुशाः-** कुश घास, **उत्तरम्-** बाद में, **स्थिर-** टिका हुआ, **आत्मनः-** अपना, **आसन-** बैठने का स्थान, **प्रतिष्ठाप्य-** स्थापित करके, **तत्र-** वहां, **आसने-** आसन पर, **उपविश्य-** बैठकर, **यतचित्तेन्द्रियक्रियः-** चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को अपने वश में कर चुका, **मनः-** मन को, **एकाग्रम्-** एकाग्र, **कृत्वा-** करके, **आत्मविशुद्धये-** अपनी शुद्धि के लिए, **योगम्-** साधना (में), **युञ्ज्यात्-** करे (जुड़े)।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्त्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्‌भगवद्‌गीता" के 'ध्यान योग' नामक षष्ठ अध्याय से उद्‌धृत है।

प्रसंग- योगाभ्यास आत्म प्रबन्धन के लिए महत्वपूर्ण है। अतः योगाभ्यास करने वाले का आसन एवं आहार विहार कैसा हो तथा उसे किन नियमों का पालन करना चाहिए? इस विषय में बताते है कि-

अनुवाद- शुद्ध पवित्र स्थान पर, न अधिक ऊंचा, न बहुत नीचा और कुशा, मृगचर्म और वस्त्र बिछाए हुए आसन को स्थिर भाव से स्थापित करके, वहां मन को एकाग्र कर चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को रोककर, आसन पर बैठकर आत्मशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण या मन की शुद्धि के लिए योग में जुट जाए।

व्याख्या- योग साधना के लिए स्थान का विशेष महत्व है। स्वच्छ स्थान से मन भी प्रसन्न होता है। ऐसा प्रायः देखा भी जाता है कि चारों ओर का वातावरण शुद्ध एवं शान्त हो तो मन में शान्ति आती है। मन की एकाग्रता के लिए आसन का शुद्ध व पवित्र

होना आवश्यक है तथा वह ऐसा हो जिस पर बैठकर अविचलित भाव से साधना की जा सके। अतः कहा है कि न अधिक ऊंचा हो न अधिक नीचा। आसन पर पहले कुशा को बिछाना चाहिए फिर मृगचर्म और फिर वस्त्र जिससे वह आसन स्थिर रहे और एकाग्रता में बाधा न पड़े। यदि कुशा सबसे ऊपर होगी हो उसका स्पर्श एकाग्रता में बाधक रहेगा। अतः आसन का भी अनुकूल होना आवश्यक है तभी मन एकाग्र जो सकता है तथा चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाएं भी वश में हो सकती हैं। लौकिक व्यवहार में हम देखते हैं कि यदि हमारा कार्य करने का स्थान अनुकूल नहीं है, स्वच्छता नहीं है तो मन अशान्त रहता है। कार्य में मन नहीं लगता। विद्यार्थी के पढ़ने का स्थान यदि स्वच्छ पवित्र नहीं है, आसन उचित नहीं है, तो उसका पढ़ाई में मन नहीं लगता। इसलिए आपके चारों तरफ का वातावरण स्वच्छ होना चाहिए, तभी आप सुव्यवस्थित होकर अपना कार्य कर सकेंगे। श्रीकृष्ण ने कहा कि ऐसे आसन पर बैठकर आत्मशुद्धि हेतु योग में लग जाना चाहिए। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए बाह्य वातावरण की स्वच्छता बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्वच्छ भारत अभियान का भी यही प्रयोजन हो सकता है।

33. **समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।**
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिषश्चानवलोकयन्।। (6/13)

34. **प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।**
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।। (6/14)

अन्वय- कायशिरोग्रीवम् समम् अचलम् धारयन् स्थिरः स्वम् नासिकाग्रम् संप्रेक्ष्य दिशः च अवलोकयन् प्रशान्तात्मा विगतभीः ब्रह्मचारिव्रते स्थितः मनः संयम्य मच्चित्तः मत्परः युक्तः आसीत्।

शब्दार्थ- कायशिरोग्रीवम्- शरीर (धड़), सिर और गर्दन को, **समम्**- समान, **अचलम्**- बिना हिले, **धारयन्**- धारण करते हुए, **स्थिरः**- स्थिर होकर, **स्वम्**- अपने, **नासिकाग्रम्**- नाक के अगले भाग को, **सम्प्रेक्ष्य**- भलीभांति देखकर, **च**- और, **दिशः**- दिशाओं को, **अनवलोकयन्**- न देखता हुआ, **प्रशान्तात्मा**- शान्त अन्तःकरण वाला, **विगतभीः**- भयरहित, **ब्रह्मचारिव्रते**- ब्रह्मचर्य नियम में, **स्थितः**- स्थित रहते हुए, **मनः**- मन को, **संयम्य**- नियंत्रित करके, **मच्चित्तः**- मुझमें (परमात्मा में) चित्त को लगाते हुए, **मत्परः**- मेरे (परमात्मा) में पारायण रहते हुए, **युक्तः**- लगकर (जुड़कर), **आसीत**- बैठे।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'ध्यान योग' नामक षष्ठ अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- योग करते समय शरीर को कैसे रखना चाहिए तथा कैसे अपने अन्तःकरण को रखते हुए बैठना चाहिए इसे बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- अपने शरीर सिर तथा गर्दन को सीधा अर्थात् एक सीध में तथा अचल रखकर अर्थात् बिना हिले-डुले स्थिर होता हुआ, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगाकर, अन्य किसी दिशा में न देखते हुए, अच्छी प्रकार से शान्त हुए अन्तःकरण वाला, भयरहित, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला, मन का संयम करके, मुझमें ही चित्त लगाकर, मुझमें समाहित होकर, मुझे श्रेष्ठ मानकर सम्बन्ध जोड़कर बैठे।

व्याख्या- योग साधना में आसन व बैठने की विधि बताते हुए कहा है कि सीधी पीठ करके तथा सिर गर्दन को भी सीधा रखकर स्थिर होकर दृष्टि को नासिका के अग्र भाग में टिकाकर इधर-उधर न देखते हुए प्रशान्त चित्त से निर्भय होकर ब्रह्मचर्य, गुरूसेवा, भिक्षा भोजन आदि जो ब्रह्मचारी के व्रत हैं उनमें स्थित हुआ उनका अनुष्ठान करने वाला होकर और मन की वृत्तियों को रोककर ईश्वर में मन लगाकर बैठे। ऐसा करने से योग साधना सम्यक् रूप से सम्पन्न होती है। यह योग आत्मप्रबन्धन में बहुत सहायक है। अतः सभी को इसका अभ्यास करना चाहिए।

(iii) संतुलित जीवन

35. **नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।**
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। (3/8)

अन्वय- त्वम् नियतम् कर्म कुरू। हि अकर्मणः कर्म ज्यायः। अकर्मणः च ते शरीरयात्रा अपि न प्रसिद्धयेत्।

शब्दार्थ- त्वम्- तुम, **नियतम्**- नियमित रूप से सदा, **कर्म**- कार्य (कर्त्तव्य), **कुरु**- करो, **हि**- क्योंकि, **अकर्मणः**- कर्म न करने से, **कर्म**- कर्म (करना), **ज्यायः**- श्रेष्ठ है, **च**- और, **अकर्मणः**- कर्म न करने से, **ते**- तुम्हारी, **शरीरयात्रा**- जीवनयात्रा, **अपि**- भी, **न**- नहीं, **प्रसिद्धयेत्**- अच्छी तरह सफल हो या सिद्ध हो।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- कर्म ही मानव के लिए श्रेयस्कर है क्योंकि कर्मयोगी जोकि आसक्ति रहित होकर आचरण करता है वह अन्य मनुष्यों से श्रेष्ठ होता है इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि-

अनुवाद- तुम नित्य कर्म करो क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना अधिक अच्छा है। कर्म न करने वाले की तो जीवन यात्रा भी सुचार रूप से सफल नहीं होगी।

व्याख्या- मानव को नियत कर्म करते हुए क्रियाशील रहना चाहिए। नियत कर्म वे हैं जो श्रुति में किसी फल के लिए नहीं बताए गए, ऐसे जिन कर्मों के तुम अधिकारी हो उन्हें करते रहो। क्योंकि कर्मों ने न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है। ऐसा इसलिए कहा गया है क्योंकि जीवन निर्वाह के लिए कर्म करना बहुत आवश्क है। संसार की कोई वस्तु बिना कर्म किए प्राप्त नहीं हो सकती। निष्क्रिय जीवन तो मृत्यु तुल्य है। मनसा, वाचा, कर्मणा निरन्तर क्रियाशील होकर ही जीवन के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। जीवन्मुक्त ज्ञानी भी निरासक्तभाव से कार्य करते रहते हैं। अतः हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना कायरता, भीरूता एवं तामसिक प्रवृत्ति का परिचायक है। इसलिए कर्मवीर एवं कर्मयोगी बनकर ही शरीरयात्रा अर्थात् जीवन निर्वाह सुचारू रूप से संभव है। अतः निष्क्रिय होकर केवल भाग्य के भरोसे बैठे रहना बुद्धिमत्ता नहीं है कहा है-

उद्योगिनं पुरूषसिंहमुपैति लक्ष्मी
दैवेन देयम् इति कापुरूषाः वदन्ति।

इसलिए सुख समृद्धि युक्त जीवन यात्रा के लिए सतत कर्म करते रहना चाहिए।

36. **नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।**
न चातिस्वप्नषीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।। (6/16)

अन्वय- अर्जुन! न् अति अश्नतः न च एकान्तम् अनश्नतः न च अति स्वप्नशीलस्य, न च जाग्रतः एव योगः अस्ति।

शब्दार्थ- **अर्जुन**- हे अर्जुन, **न**- नहीं, **अति**- अत्यधिक, **अश्नतः**- खाने वाले का, **न**- नहीं, **च**- और, **एकान्तम्**- बिल्कुल, **अनश्नतः**- न खाने वाले का, **न**- नहीं, **च**- और, **अति**- अत्यधिक, **स्वप्नशील**- केवल स्वप्न देखने वाले का, **न**- नहीं, **च**- और, **जाग्रतः**- जागते हुए का, **योगः**- योग, **अस्ति**- है

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्त्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'ध्यानयोग' नामक षष्ठ अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- कर्मयोगी का जीवन संतुलित होना चाहिए। उसका आहार-विहार संतुलित होगा तभी वह योग करने में समर्थ होगा। अतः आहार विहार के विषय में श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि-

अनुवाद- हे अर्जुन! अधिक खाने वाले का नहीं और न ही बिल्कुल न खाने वाले का तथा न बहुत सोने वाले का और न जागते हुए का योग (कर्म में कुशलता) होता है।

व्याख्या- गीता में योग शास्त्र को स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है कि "योगः

कर्मसु कौशलम्" कार्यों में कुशलता ही योग है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कुशलता पूर्वक भलीभांति कार्य करना ही योग है। परन्तु यह तभी संभव है जब मनुष्य संयमी हो एवं मनोनिग्रह करके कार्य करे। क्योंकि कर्म में कई बाधाएं हमारे मन व इन्द्रियों के असंतुलन से आती हैं। इसमें आहार विहार अर्थात् आचरण की विशेष भूमिका है। आहार संतुलित एवं समय पर किया जाना चाहिए, परन्तु यदि जिह्वा इन्द्रिय वश में नहीं है तो मनुष्य आवश्यकता न होने पर भी खाता जाता है और परिणामतः अस्वस्थ हो जाता है। यदि ब्रिल्कुल ही खाना छोड़ दे तो यह भी अनुचित है क्योंकि शरीर के पोषण के लिए भोजन अत्यावश्यक है। अधिक खाना और न खाना दोनों ही शरीर को अस्वस्थ कर देंगे। इस प्रकार का भोजन-विषयक व्यवहार योग नहीं हैं क्योंकि यह कुशलता से नहीं किया जा रहा। इसी प्रकार सोते ही रहना या बिल्कुल ही न सोना यह भी कुशलता नहीं है अपितु समय पर सोना समय पर जागना यही कुशलता है। जो शरीर के स्वास्थ्य के लिए हितकर है। अतः खाने और सोने में संतुलन रखना ही योग है। यही आत्मप्रबन्धन है। आज मानव इस आचरण के विपरीत आचरण कर रहा है। इसलिए उसका जीवन अव्यवस्थित सा है और परिणामतः अपने लक्ष्य में सफल न होता हुआ दुःखी रहता है। परन्तु जो आत्मप्रबन्धित होकर आचरण करते हैं, उनके जीवन में किसी भी प्रकार की कोई बाधा नहीं आती। योगशास्त्र में भी बताया है कि जो अन्न का परिणाम है उससे अधिक खाने से योग सिद्ध नहीं होता। परिणाम के विषय में बताया है कि पेट का आधा भाग अर्थात् दो हिस्से तो शाकादि व्यंजनों सहित भोजन से और तीसरा हिस्सा जल से पूर्ण करना चाहिए तथा चौथा वायु के आवागमन के लिए रखना चाहिए। इस प्रकार विहित परिणाम से ही भोजन करने वाले का योग सिद्ध होता है।

37. **युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।**
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (6/17)

अन्वय- युक्ताहारविहारस्य कर्मसु युक्तचेष्टस्य युक्तस्वप्नावबोधस्य योगः दुःखहा भवति।

शब्दार्थ- **युक्ताहारविहारस्य**- उचित प्रकार से भोजन व भ्रमण करने वाले का, **कर्मसु**- कार्यों में, **युक्तचेष्टस्य**- उचित चेष्टाएं (प्रयास) करने वाले का, **युक्तस्वप्नावबोधस्य**- उचित प्रकार से सोने एवं जागने वाले का, **योगः**- योग (कार्य कुशलता), **दुःखहा**- दुःखों को नष्ट करने वाला, **भवति**- होता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्त्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'ध्यानयोग' नामक षष्ठ अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- योग किस मानव का सिद्ध होता है अर्थात् सफल होता है इसे बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- उचित प्रकार से (नियमित) भोजन और भ्रमण करने वाले का, कार्यों में उचित ढंग से प्रयास करने वाले का उचित अर्थात् नियमित रूप से सोने व जागने वाले का योग दुःखों को नष्ट करने वाला होता है।

व्याख्या- योग को दुःख का नाशक कहा है और यह उन मनुष्यों का सिद्ध होता है जिनका आहार-विहार, कार्य, सोना जागना सब कुछ नियमित है अर्थात् जब जिस कार्य का समय है तब उसे करना और जितना परिणाम विहित है उसके अनुरूप उसे करना। यही कार्यों में कुशलता को बताती है। ऐसा व्यवहार वही कर सकता है जिसका मन व इन्द्रियां वश में हो। आत्मप्रबन्धन के लिए ऐसा आचरण आवश्यक है। क्योंकि उचित नियमित आहार-विहार से आर्थिक प्रबन्धन एवं समय प्रबन्धन सरलता से संभव है। व्यक्ति अस्वस्थ तभी होता है जब उसके आहार-विहार में असंतुलन हो जाता है और इस कारण वह दुःखी रहता है। स्वस्थ जीवन के लिए नियमित आहार-विहार बहुत आवश्यक है। इसलिए कहा है कि जिसका आहार-विहार कर्मादि सब नियमित है ऐसे कार्य कुशल योग के द्वारा दुःखों का नाश हो जाता है। अतः सुखी रहने के लिए जीवन में संतुलन का होना आवश्यक है और यह संतुलन आत्म प्रबन्धन के माध्यम से ही संभव है।

(iv) आहार नियंत्रण व शुद्धि

38. **आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।**
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।। (17/8)

अन्वय- आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीति विवर्धनाः, रस्याः, स्निग्धाः, स्थिराः, हृद्याः, आहाराः सात्त्विकप्रियाः।

शब्दार्थ- **आयुः**- उम्र, **सत्त्व**- प्राणशक्ति, ऊर्जा, **बल**- शक्ति, **आरोग्य**- निरोगता, **सुख**- अनुकूल प्रतीति, **प्रीति**- प्रसन्नता, **विवर्धनाः**- बढ़ाने वाले, **रस्याः**- रसयुक्त, **स्निग्धाः**- चिकने, **स्थिराः**- शरीर में पौष्टिकता को टिकाने वाले, **हृद्याः**- मनोहारी (मनपसंद), **आहाराः**- भोजन, **सात्त्विकप्रियाः**- सात्त्विक लोगों को प्रिय।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सप्तदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- त्रिविध गुणों से युक्त आहार के स्वरूप को बताते हुए सात्त्विक आहार के विषय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- आयु, बुद्धि, बल, आरोग्यता, सुख और प्रीति इन्हें बढ़ाने वाले, रसयुक्त, चिकने, शरीर में चिरकाल तक रहने वाले और हृदय को प्रिय लगने वाले आहार सात्त्विक लोगों को प्रिय होते हैं।

व्याख्या- सात्त्विक मनुष्यों को जो आहार प्रिय है वह है रसयुक्त, चिकना, शरीर में रहने वाला और मन को प्रिय लगने वाला आहार, क्योंकि ऐसा आहार आयु, बुद्धि बल आरोग्यता सुख और प्रीति बढ़ाता है। वस्तुतः देखा जाए तो जितना शुद्ध व पवित्र आहार होगा उतना ही खाने में स्वादिष्ट होगा। मनुष्य शुद्ध सात्त्विक आहार से नीरोगी रहेगा। अच्छे पौष्टिक तत्वों से उसकी बुद्धि व बल बढ़ेगा और उसका मन प्रसन्न रहेगा। परिणामतः उसमें सबके प्रति प्रीति भाव जागृत होगा। आरोग्यता को परमसुख माना गया है- "पहला सुख नीरोगी काया" आरोग्यता सात्त्विक आहार एवं युक्ताहार से ही संभव है। सात्त्विक प्रवृत्ति के लोगों को ऐसा आहार प्रिय होता है क्योंकि उन्हें ज्ञात होता है कि कैसा आहार हमारे लिए उपयोगी है, कैसा नहीं? सात्त्विक प्रवृत्ति के लोगों में ज्ञान के कारण विवेक शक्ति होती है जिसके फलस्वरूप उनका आहार-विहार उचित होता है।

39. **कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।**
आहार राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।। (17/9)

अन्वय- कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः दुःखशोकामयप्रदाः आहाराः राजसस्य इष्टाः।

शब्दार्थ- **कटु**- कड़वे, **अम्ल**- खट्टे, **लवण**- नमकीन, **अत्युष्ण**- अधिक गर्म, **तीक्ष्ण**- तीखे, **रूक्ष**- रूखे, **विदाहिनः**- जलन पैदा करने वाले, **दुःख**- प्रतिकूल प्रतीति, **शोक**- चिन्ता, अभय, रोग देने वाले, **आहाराः**- भोजन, **राजसस्य**- रजोगुणी व्यक्ति के, **इष्टाः**- प्रिय (होते हैं)।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सप्तदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- राजसिक प्रवृत्ति के लोगों को कैसा आहार प्रिय होता है? इसे बताते हुए कहते हैं कि-

अनुवाद- कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक एवं दुःख, चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करने वाले ऐसे आहार राजसिकवृत्ति वाले मनुष्यों को प्रिय होते हैं।

व्याख्या- रजोगुण में लोभ होता है और लोभ वश मनुष्य जिह्वा के वशीभूत होकर ऐसे आहार को पसंद करते हैं जो चटपटे हो, तेज़ मसाले वाले हो जिससे जिह्वा को आनन्द मिले परन्तु ऐसे भोजन दुःख, चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करने वाले होते हैं क्योंकि इन्हें खाकर मनुष्य के शरीर में असंतुलन हो जाता है। पोषक तत्व की कमी एवं तीक्ष्णता की अधिकता के कारण जलन हो जाती है पित्त एवं अम्लता का प्रकोप बढ़ जाता है और शरीर रोगों का घर हो जाता है। क्षणिक जिह्वा के स्वाद के लिए अनेक दुःखों को सहन करना पड़ता है। इस प्रकार राजसिक प्रवृत्ति के लोग प्रायः दुःख, चिन्ता एवं रोगों से ग्रस्त रहते हैं।

40. **यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।**
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।। (17/10)

अन्वय- यत् भोजनम् यातयामम् गतरसम् पूति पर्युषितम् च उच्छिष्टम् अमेध्यम् च अपि तामसप्रियम्।

शब्दार्थ- **यत्**- जो, **भोजनम्**- भोजन या आहार, **यातयामम्**- कुछ समय पहले का (ठण्डा), **गतरसम्**- रस रहित, **पूति**- दुर्गन्धयुक्त, **च**- और, **पर्युषितम्**- बासी (पिछले दिन का), **उच्छिष्टम्**- जूठा (खाने से बचा हुआ), **अमेध्यम्**- अपवित्र, **अपि**- भी, **तामसप्रियम्**- तामसिक लोगों को प्रिय (पसन्द) होता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सप्तदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- तामसिक प्रवृत्ति के मनुष्यों को कैसा भोजन प्रिय होता है? इस विषय में श्रीकृष्ण बताते हैं कि-

अनुवाद- जो भोजन कुछ समय पहले का या अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी तथा जूठा तथा जो यज्ञ के योग्य न हो ऐसा (भोजन) तामसी मनुष्यों को प्रिय होता है।

व्याख्या- जैसा अन्न होता है वैसा मन होता है यदि अन्न शुद्ध नहीं, बासी है, कई दिनों का बना हुआ है, जूठा है, ठीक से पका नहीं है, रसहीन है तो उसे खाने से मन भी वैसा होगा। ये तामसिक गुण के परिचायक होते हैं। तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। इससे मनुष्य प्रमादी, आलसी, दीर्घसूत्री हो जाता है। इस प्रकार तामसिक प्रवृत्ति के लोग अज्ञान के कारण ऐसे दूषित, पौष्टिकता से रहित भोजन को पसंद करते हैं। आजकल तो प्रायः मनुष्य तामसिक भोजन ही करते हैं। जिसका कारण व्यस्तता को माना जाता

है। परन्तु यदि समयनियोजन करके भोजन के लिए जागरूक रहे तो तामसिक भोजन से मुक्ति मिल सकती है। भोजन का हमारे जीवन में बहुत महत्व है। अतः उत्तम कोटि का भोजन करना ही हमारे लिए हितकारी है। संतुलित, ताजा पौष्टिक भोजन करने से हमारी प्रवृत्ति सात्त्विक होगी इसलिए तामसिक भोजन का त्याग करना चाहिए।

(v) शारीरिक एवं मानसिक अनुशासन

41. **देवद्विजगुरूप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।**
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। (17/14)

अन्वय- देवद्विजगुरूप्राज्ञपूजनम् शौचम् आर्जवम् ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च शारीरम् तपः उच्यते।

शब्दार्थ- **देवद्विजगुरूप्राज्ञपूजनम्**- देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा करना, **शौचम्**- पवित्रता, **आर्जवम्**- सरलता, **ब्रह्मचर्यम्**- ब्रह्मचारी नियम में रहना, **च**- और, **अहिंसा**- किसी भी प्राणी को दुःख न देना, **शारीरम्**- शरीरसम्बन्धी, **तपः**- तपस्या, **उच्यते**- कहलाती है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सप्तदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- त्रिविध गुणों (सत्व रजस् व तमस्) से युक्त आहार, यज्ञ एवं तप का वर्णन श्रीकृष्ण करते हैं क्योंकि राजस् और तामस् आहार, यज्ञ व तप को जानकर किसी प्रकार लोग उनका त्याग कर दें और सात्विक आहार, यज्ञ व तप का अनुष्ठान करें। इसी उद्देश्य से श्रीकृष्ण अर्जुन को तप के विषय में बताते हैं। सर्वप्रथम त्रिविध तप में शारीरिक तप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

अनुवाद- देव, ब्राह्मण, गुरू और ज्ञानी इन सबका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह सब शारीरिक अर्थात् शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।

व्याख्या- त्रिविध तप में सर्वप्रथम शारीरिक तप क्या है? इसे स्पष्ट किया गया है। देव, ब्राह्मण, गुरू और ज्ञानी का पूजन करना। पूजन से तात्पर्य है श्रद्धापूर्वक उनका सम्मान करना। कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति बाह्यप्रदर्शन के कारण अभिवादनादि तो करता है परन्तु मन में श्रद्धाभाव नहीं होता तो यह पूजन नहीं है। अपितु देवताओं के प्रति भक्तिभाव, द्विज के प्रति श्रद्धाभाव, गुरू एवं ज्ञानी के प्रति समर्पण पूर्वक आदर भाव ही उनकी पूजा है। कहा है-

अभिवादनपीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुः विद्या यशोबलम्।।

इसलिए देव व गुरू के प्रति जैसा भाव होता है वैसे ही सिद्धि प्राप्त होती है- "यादृशीभावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।" पवित्रता से तात्पर्य है अपने वातावरण में स्वच्छता और मन में निर्मलता का होना, सरलता अर्थात् छल कपट रहित होना। ब्रह्मचर्य का अर्थ है ऐसे नियमों का पालन जो हमारे लिए समय-समय पालनीय हैं। अहिंसा का अर्थ है किसी भी प्राणी को पीड़ित न करना। ऐसा आचरण शारीरिक तप इसलिए कहा गया है क्योंकि यह शरीर के द्वारा किया जाने वाला है। इसमें शरीर प्रधान है। इस प्रकार ऐसे समस्त कार्य और कारण जो कर्ता के द्वारा किए जाएं वे शरीर सम्बन्धी तप कहलाते हैं।

42. **अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।**
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तपः उच्यते।। (17/15)

अन्वय- यत् अनुद्वेगकरम् प्रियहितम् च सत्यम् वाक्यम् स्वाध्यायाभ्यसनम् च एव वाङ्मयम् तपः उच्यते।

शब्दार्थ- यत्- जो, **अनुद्वेगकरम्-** विचलित न करने वाला, **प्रियहितम्-** प्रिय एवं कल्याणकारी, **सत्यम्-** सच, सही, **वाक्य-** वचन, **स्वाध्याय-** वेदशास्त्रदि ग्रन्थों का पठन पाठन, **च-** और, **अभ्यसनम्-** प्राप्त किए ज्ञान का व्यवहार में अभ्यास या प्रयोग, **एव-** ही, **वाङ्मयम्-** वाणी से सम्बन्धित, **तपः-** तपस्या, **उच्यते-** कहलाती है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सप्तदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- शारीरिक तप के पश्चात् वाङ्मय तप का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- जो विचलित न करने वाला प्रिय और हितकारी और सत्य वाक्य (बोलना) तथा स्वाध्याय का अभ्यास (करना) ही वाणी का तप कहलाता है।

व्याख्या- वाणी का तप का अर्थ है जो हम बोलते हैं वह कैसा हो? तप शब्द से तात्पर्य है ऐसा कर्म या व्यवहार जिसे करने में कुछ कठिनाई तो होती है परन्तु उसका फल मधुर होता है। इसी प्रकार ऐसे वाक्य जिन्हें सुनकर किसी को दुःख न हो, कोई विचलित न हो, अपितु प्रसन्न हो तथा सुनने में प्रिय लगे तथा हितकारी हों और सत्य से युक्त हो। ऐसी वाणी का प्रयोग वाङ्मय तप अर्थात् वाणी का तप कहलाता है। इसके साथ-साथ यथाविधि स्वाध्याय का अभ्यास करना भी वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है। वस्तुतः ऐसे वाक्य जो सत्य भी हों प्रिय भी हों तथा हितकारी भी हो दुर्लभ होते

हैं इसलिए इसे तप कहा है। परन्तु यदि अच्छी तरह सोच-विचार कर देखें तो ऐसे वाक्य इतने दुर्लभ नहीं है। जैसे शंकराचार्य ने इस विषय में अपने भाष्य में इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है- 'हे वत्स! तुम शान्त हो, स्वाध्याय और योग में स्थित हो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा इत्यादि वचन वाङ्मयतप' सम्बन्धी हैं।

वाङ्मय तप को यदि सभी अपने व्यवहार में लाएं तो सभी पारिवारिक, सामाजिक राजनैतिक ईर्ष्या द्वेष व मतभेद समाप्त हो जाएं। संसार में जितनी भी समस्याएं है उनका मूल वाणी ही है। सामान्यतः बिना सोचे समझे वाणी का प्रयोग घातक होता है। जिसका परिणाम आज सभी भोग रहें हैं। मानव को जिह्वा पर नियंत्रण करके, मन व बुद्धि से सम्यक् विचार करके ही वाणी का प्रयोग करना चाहिए परन्तु यह इतना सरल नहीं। अतः इसे तप कहा गया है। वाणी के सदुपयोग विषयक अनेक सुभाषित हम पढ़ते हैं, सुनते हैं यथा-

ऐसी वाणी बोलिए मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करे आपहुं सीतल होय।।

व

तुलसी मीठे वचन ते सुख उपजत चहुं ओर।
वशीकरण इक मन्त्र है तज दे वचन कठोर।।

परन्तु ये सब सुनने में तो अच्छे लगते हैं परन्तु इनका व्यवहार में प्रयोग कठिन होता है। इसलिए कहा है कि स्वाध्याय का अभ्यास करना भी वाणी का तप है। अतः वाणी का तप यदि सभी करें तो संभवतः अधिकांश समस्याओं का निदान सरलता से हो सकता है।

43. **मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।**
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। (17/16)

अन्वय- मनः प्रसादः सौम्यत्वम् मौनम् आत्मविनिग्रहः भावसंशुद्धि इति एतत् मानसम् तपः उच्यते।

शब्दार्थ- मनः- मन की, **प्रसादः-** प्रसन्नता, **सौम्यत्वम्-** सौम्यता (सरलता व शान्तस्वभाव), **मौनम्-** चुप रहना, **आत्मविनिग्रहः-** अपना नियंत्रण, **भावसंशुद्धिः-** विचारों की पवित्रता, **इति-** इस प्रकार, **एतत्-** यह, **मानसम्-** मन सम्बन्धी, **तपः-** तपस्या, **उच्यते-** कहलाती है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सप्तदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- त्रिविध तप के वर्णन में तृतीय तप मानसतप के विषय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मसंयम मनोभाव की शुद्धता इस प्रकार यह मन सम्बन्धी तप कहलाता है।

व्याख्या- मानस तप का सर्वप्रथम लक्षण है मन की प्रसन्नता। मन को प्रसन्न रखने के लिए मनुष्य अपने अनुकूल कार्य करता है परन्तु यह प्रसन्नता तो क्षणिक है। मन की सर्वदा प्रसन्नता तो ईश्वरार्पण बुद्धि से कार्य करने में ही संभव है। सत्कर्म करने से जो मन प्रसन्न होता है वह शाश्वत प्रसन्नता होती है। सौम्यता का सम्बन्ध भी मन से है जैसे भाव मन में होता है वहीं बाह्य रूप में दिखाई देता है। मन में सबके प्रति अच्छे भाव होने से सुमनसता आती है यही सौम्यता है। मौन का अर्थ है अधिक न बोलना, जब आवश्यकता हो तभी बोलना। आत्मसंयम से तात्पर्य है कि अनुकूलता में बहुत उत्साहित न होना, प्रतिकूलता में बहुत दुःखी न होना अपितु अपने को नियंत्रित करके समुचित व्यवहार करना। भावशुद्धि अत्यन्त कठिन है क्योंकि मन बहुत चंचल है पल में कुछ भाव आते हैं पल में कुछ। सर्वदा भाव शुद्ध होना कठिन है अतः इसे तप कहा है। मानस तप, पूर्वोक्त दोनों तपों शारीरिक एवं वाङ्मय से कठिन है। यदि मानसतप सभी मानव करें तो शारीरिक व वाङ्मय तप स्वतः ही सरल हो जाएगा। ये त्रिविध तप आत्म प्रबन्धन के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

44. **श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।**
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते।। (17/17)

अन्वय- अफलाकांक्षिभिः युक्तैः नरैः परया श्रद्धया तप्तम् तत् त्रिविधम् तपः सात्विकम् परिचक्षते।

शब्दार्थ- **अफलाकांक्षिभिः**- फल की इच्छा न रखने वालों के द्वारा, **युक्तैः**- योगियों के द्वारा, **नरैः**- मनुष्यों के द्वारा, **परया**- परम, उत्तम (से), **श्रद्धया**- श्रद्धा से, **तप्तम्**- तपा गया, **तत्**- वह, **त्रिविधम्**- तीन प्रकार का, **तपः**- तपस्या, **सात्विकम्**- सात्त्विक, **परिचक्षते**- कहलाती है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्त्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सप्तदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप सत्व रजस् और तमस् इन तीन गुणों के आधार पर कैसे होते हैं? उनका वर्णन किया जा रहा है। श्रीकृष्ण कहते हैं-

अनुवाद- फल की इच्छा न करने वाले योग में लगे हुए मनुष्यों के द्वारा अत्यधिक श्रद्धा से तप किया हुआ वह तीन प्रकार का (शारीरिक, वाचिक, मानसिक) तप सात्विक कहा जाता है।

व्याख्या- शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप जब मनुष्य के द्वारा, फल की इच्छा का त्याग करके एवं श्रद्धा भाव से किए जाते हैं तब वे सात्विक कहलाते है। सत्व गुण का लक्षण भी यही है कि जिसमें आनन्द एवं ज्ञान होता है तथा जो निर्मल होने के कारण प्रकाशक है। त्रिविध तप को सत्व गुण की प्रधानता के कारण श्रद्धा भाव एवं निष्काम भाव से किया जाता है क्योंकि मानव, विवेक ज्ञान के कारण ऐसे सात्विक तप को करने में समर्थ हो जाता है।

45. **सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।**
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।। (17/18)

अन्वय- यत् तपः सत्कारमानपूजार्थम् दम्भेन एव च क्रियते इह तत् चलम् अध्रुवम् राजसम् प्रोक्तम्।

शब्दार्थ- **यत्**- जो, **तपः**- तपस्या, **सत्कारमानपूजार्थम्**- स्वागत, सम्मान एवं पूजा के लिए, **च**- और, **दम्भेन**- अहंकार के कारण, **एव**- ही, **क्रियते**- किया जाता है, **इह**- यहां, **तत्**- वह, **चलम्**- चंचल, **अध्रुवम्**- अनिश्चित, **राजसम्**- जो गुण वाला, **प्रोक्तम्**- कहा गया है

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्त्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सप्तदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- त्रिविध तपों के राजसिक स्वरूप को बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- और जो (शारीरिक, वाचिक मानसिक) तप सत्कार मान एवं पूजा प्राप्त करने के लिए अहंकार से किया जाता है वह अनिश्चित अनित्य यहां राजस कहा जाता है।

व्याख्या- राजस् लोभमूलक होता है। अतः जिन तपों का मूल सत्कारादि की इच्छा होती है। सत्कार से तात्पर्य है प्रशंसात्मक वचनों का प्रयोग यथा- यह बड़ा श्रेष्ठ है, तपस्वी है आदि और फूल मालादि से अभिनन्दन करना। किसी के समक्ष खड़े होकर अभिवादनादि द्वारा सम्मान 'मान' है, पादप्रक्षालन भोजनादि करवाना ये पूजा के अन्तर्गत आते हैं, इन सबकी अर्थात् सत्कार, मान, पूजा की इच्छा से अहंकारयुक्त जब शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप किये जाते हैं तब ये राजसिक कहे जाते हैं इनका फल

अस्थिर एवं अनिश्चित होता है। ऐसा इसलिए कहा है क्योंकि ये लोभवश किए जाते हैं। जैसे ही किंचित् फल प्राप्त होता है वैसे ही पुनः उसकी प्राप्ति बढ़ती जाती है। रजोगुण युक्त ये त्रिविध तप मनुष्य को शाश्वत सुख प्रदान नहीं करते।

46. **मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।**
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।। (17/19)

अन्वय- यत् तपः मूढग्राहेण आत्मनः पीडया वा परस्य उत्सादनार्थम् क्रियते तत् तामसम् समुदाहृतम्।

शब्दार्थ- यत्- जो, **तपः-** तपस्या, **मूढग्राहेण-** मूर्खता के कारण, **आत्मनः-** अपने को, **पीडया-** पीडित करने से, **वा-** अथवा, **परस्य-** दूसरे के, **उत्सादनार्थम्-** विनाश या कष्ट के लिए, **क्रियते-** किया जाता है, **तत्-** वह, **तामसम्-** तमोगुण वाला, **उदाहृतम्-** कहा गया है

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सप्तदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- त्रिविध तप (शारीरिक, वाचिक मानसिक) का तामसिक स्वरूप कैसा होता है? इसका वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- जो तप मूढ़तापूर्वक निश्चय से अपने को पीड़ित करने से अथवा दूसरे को नष्ट करने के लिए किया जाता है वह तामस कहा गया है।

व्याख्या- ईर्ष्या द्वेषवश दूसरे की हानि करने के लिए अपने को कष्ट देकर जो त्रिविध तप किए जाते हैं वह तामस है। यथा वाणी का प्रयोग करते हुए यही लक्ष्य रखना कि दूसरे को हानि हो, शरीर से भी ऐसा कर्म करना जिनसे अपने को भी पीड़ा हो और दूसरे की भी हानि हो एवं मन से भी यही सोचना तामस तप है। आज के वातावरण में हम देखते हैं कि त्रिविध तप का तामसिक स्वरूप अधिक प्रचलित है। इसका परिणाम सर्वत्र भय एवं असुरक्षा का वातावरण है। अतः यदि तप करना है तो वह सत्वगुण से युक्त होना चाहिए तमोगुण से नहीं। यही तप की सार्थकता है।

47. **असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।**
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।। (6/36)

अन्वय- असंयतात्मना योगो दुष्प्राप। तु यतता वश्यात्मना उपायतः अवाप्तुम् शक्यः इति मे मति।

शब्दार्थ- असंयतात्मना- जिसका अन्तःकरण वश में नहीं है, उसके द्वारा,

योगः- योग (कार्य कुशलता), **दुष्प्राप-** बड़ी मुश्किल से मिलने वाला, **तु-** किन्तु, **यतता-** कोशिश करने वाले के द्वारा, **वश्यात्मना-** जिसका अन्तःकरण वश में है ऐसे मनुष्य के द्वारा, **उपायतः-** उपाय से, **अवाप्तुम्-** प्राप्त करने के लिए, **शक्यः-** समर्थ है, **इति-** ऐसा, **मे-** मेरा, **मति-** मत (विचार), बुद्धि है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'ध्यानयोग' नामक षष्ठ अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- मन के संयम का उपाय सुनकर अर्जुन कहता है कि-

अनुवाद-जिसने अपने आप को वश में नहीं किया उसके लिए योग को प्राप्त कर सकना अत्यन्त कठिन है- परन्तु जिसने अपने को (अपने शरीर, मन, बुद्धि को) यत्न के द्वारा वश में कर लिया है वह उपायों द्वारा योग को प्राप्त कर सकता है। ऐसा मेरा विचार है।

व्याख्या-योग सिद्धि में मनोनिग्रह की आवश्यकता है क्योंकि योग का लक्षण चित्तवृत्ति निरोध बताया है। "योगाश्चित्तवृत्तिनिरोधः"। यह अभ्यास व वैराग्य से ही संभव है। इसलिए जिसका मन वश में नहीं है जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं है वह योग को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि चंचल मन इन्द्रियों के अधीन होकर उचित कार्य नहीं कर सकता जब कार्य ठीक नहीं होंगे तो वह योग संभव नहीं होगा। कहा है- "योगः कर्मसु कौशलम्" कार्यों को कुशलता पूर्ण करना भी योग है और यह चित्तवृत्तिनिरोध से ही हो सकता है। इसलिए जिसने शरीर, मन बुद्धि को अभ्यास व वैराग्य द्वारा वश में कर लिया है वह ही योग को प्राप्त कर सकता है।

तृतीय अन्विति

(i) ज्ञान का महत्व

48. **यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।**
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।। (2/52)

अन्वय- यदा ते बुद्धि मोहकलिलम् व्यतितरिष्यति तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च निर्वेदम् गन्तासि।

शब्दार्थ- यदा- जब, **ते-** तुम्हारी, **बुद्धि-** विचार (दिमाग), **मोहकलिलम्-** मोहरूपी दलदल को, **व्यतितरिष्यति-** पार कर जाएगी, **तदा-** तब, **श्रोतव्यस्य-** सुने जाने वाले (भोगों से) **श्रुतस्य-** सुने हुए (भागों से), **निर्वेदम्-** घृणा को, **गन्तासि-** प्राप्त हो जाओगे।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्‌भगवद्‌गीता" के 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय से उद्‌धृत है।

प्रसंग- योग के अनुष्ठान से प्राप्त सत्वशुद्धि से उत्पन्न हुई बुद्धि कब प्राप्त होती है? इस विषय में कहते है कि-

अनुवाद- जब तुम्हारी बुद्धि मोहात्मक अविवेक के दलदल को पार कर जाएगी तब उस समय तुम्हें सुनने योग्य और सुने हुए से वैराग्य प्राप्त हो जाएगा।

व्याख्या- श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि जब तुम मोह से दूर हो जाओगे। तुम विवेक ज्ञान से जब यह जान जाओगे कि शोक मोह ग्रस्त होना व्यर्थ है। तब कर्म व ज्ञान योग द्वारा मोह को पार कर जाओगे। उस समय जो तुमने कर्मकाण्ड के विषय में सुना है या सुनना है उन सबसे विरक्त हो जाओगे। अर्थात् तब तुम्हारे लिए सुनने योग्य और सुने हुए सब विषय निष्फल हो जाएंगे। इस प्रकार मोहरूप मलिनता से पार होकर विवेकजन्य बुद्धि को प्राप्त हो जाओगे।

49. **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।**
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। (4/38)

अन्वय- इह ज्ञानेन सदृशम् पवित्रम् न हि विद्यते। योगसंसिद्धः स्वयम् तत् कालेन आत्मनि विन्दति।

शब्दार्थ- इह- इस लोक में, **ज्ञानेन-** ज्ञान से (के), **सदृशम्-** समान, **पवित्रम्-** पवित्र करने वाला, **न हि-** नहीं, **विद्यते-** है, **योगसंसिद्धः-** योग में सिद्धि को प्राप्त (व्यक्ति), **स्वयम्-** अपने आप, **तत्-** उस ज्ञान को, **कालेन-** समय के साथ, **आत्मनि-** अपने में, **विन्दति-** प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्‌भगवद्‌गीता" के 'ज्ञानकर्मसन्यासयोग' नामक चतुर्थ अध्याय से उद्‌धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि इस जन्म में ज्ञान की उत्पत्ति से पहले और ज्ञान के साथ-साथ किए हुए एवं पुराने अनेक जन्मों में किए हुए जो कर्म अभी तक फल देने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए है उन सब कर्मों को ही ज्ञानाग्नि भस्म करता है प्रारब्ध कर्मों को नहीं। इसलिए ज्ञान का विशेष महत्व है क्योंकि-

अनुवाद- इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कोई नहीं है। वह समय पाकर अपने आप कर्मयोग से सिद्ध हुआ आत्मा में ज्ञान को पा लेता है।

व्याख्या- कर्मयोग या समाधियोग के निरन्तर अभ्यास के द्वारा जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तब योग की सिद्धि मानी जाती है ऐसी दशा को प्राप्त मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष की इच्छा रखने वाला अपने आप अपनी आत्मा में ज्ञान का साक्षात् कर लेता है। इसलिए कहा है कि इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कोई नहीं है यही ज्ञान का महत्व है।

50. **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। (4/39)

अन्वय- संयतेन्द्रियः तत्परः श्रद्धावान् ज्ञानम् लभते। ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण पराम् शान्तिम् अधिगच्छति।

शब्दार्थ- संयतेन्द्रियः- इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाला, **तत्परः-** ज्ञान की प्राप्ति में लगा हुआ, **श्रद्धावान्-** श्रद्धा से युक्त, **ज्ञानम्-** ज्ञान को, **लभते-** प्राप्त कर लेता है, **ज्ञानम्-** ज्ञान को, **लब्ध्वा-** प्राप्त करके, **अचिरेण-** शीघ्र ही, **पराम्-** परम, **शान्तिम्-** शान्ति को, **अधिगच्छति-** प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्‌भगवद्‌गीता" के 'ज्ञानकर्मसन्यासयोग' नामक चतुर्थ अध्याय से उद्‌धृत है।

प्रसंग- ज्ञान की प्राप्ति का उपाय बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- इन्द्रियों को वश में करने वाला, ज्ञान प्राप्ति में लगा हुआ एवं श्रद्धा से युक्त ही ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य परम शान्ति (मोक्ष) को शीघ्र प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या- श्रद्धालु मनुष्य ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। श्रद्धालु होने के साथ तत्पर भी होना चाहिए अर्थात् उसे ज्ञान प्राप्ति के गुरू सेवादि उपायों को अच्छी तरह करना चाहिए। इन सबसे अधिक आवश्यक यह है कि मनुष्य को संयतेन्द्रिय भी होना चाहिए। जिसने अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपने वश में कर लिया ऐसा संयतेन्द्रिय ही ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। जो दण्डवत् प्रणामादि उपाय हैं वे तो बाह्य है और कपटी मनुष्य के द्वारा भी किए जाते हैं इसलिए वे ज्ञान रूप फल उत्पन्न करने में अनिश्चित भी हो सकते हैं। परन्तु श्रद्धालुता, तत्परता संयतेन्द्रिय होना आदि उपायों में कपट संभव नहीं है इसलिए ये निश्चित रूप से ज्ञानप्राप्ति के उपाय बताए गए है। यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य मोक्ष रूप परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है।

51. **तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।**
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।। (4/42)

अन्वय- तस्मात् भारत! योगम् आतिष्ठ। अज्ञानसंभूतम् हृत्स्थम् एनम् आत्मनः संशयम् ज्ञानासिना छित्त्वा उत्तिष्ठ।

शब्दार्थ- **तस्मात्**- इसलिए, **भारत**- हे भरतवंशी! (अर्जुन), **योगम्**- योग को, आतिष्ठ- धारण करो, **अज्ञानसंभूतम्**- अज्ञान से उत्पन्न, **हृत्स्थम्**- हृदय में स्थित, **एनम्**- इसको, **आत्मनः**- अपने, **संषयम्**- संदेह को, **ज्ञानासिना**- ज्ञान रूपी तलवार के द्वारा, **छित्त्वा**- काटकर, **उत्तिष्ठ**- खड़े हो जाओ।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्त्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'ज्ञानकर्मसन्यासयोग' नामक चतुर्थ अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि योग के द्वारा कर्मत्याग एवं ज्ञान के द्वारा संशय नाश जब हो जाता है तब उस आत्मबल वाले को कर्मबन्धन नहीं रहता। अतः ज्ञान द्वारा संशय का नाश करने के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं कि-

अनुवाद- इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन! योगमार्ग में लग जाओ और अज्ञान से उत्पन्न हृदय में स्थित इस आत्मा के संशय को ज्ञान की तलवार से काटकर (युद्ध के लिए) उठ खड़े हो जाओ।

व्याख्या- कुरूक्षेत्र की रणभूमि में अर्जुन के मन में कर्म व अकर्म विषयक जो द्वन्द्व चल रहा था उसका निवारण करते हुए श्रीकृष्ण ने कर्म व ज्ञान योग के विषय में बताया। ज्ञान द्वारा संशय का नाश करके ही मनुष्य अपने कर्म को करने में सक्षम होता है। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम अविवेक से उत्पन्न और अन्तःकरण में रहने वाले, अपने नाश के कारण इस अत्यन्त पाप युक्त संशय को ज्ञान की तलवार से काट दो। ज्ञान से शोक मोह का नाश होता है। इसलिए अपने नाश के कारण रूप इस संशय को काटकर पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के उपाय रूप कर्मयोग में स्थित हो जाओ और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ। इस प्रकार अर्जुन को सन्मार्ग दिखाते हुए उसे अपने कर्म की ओर प्रेरित किया गया।

(ii) बुद्धि की निर्मलता

52. **प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।**
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।। (18/30)

अन्वय- पार्थ! या प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च कार्याकार्ये भयाभये बन्धं मोक्षम् च वेत्ति सा बुद्धिः सात्त्विकी।

शब्दार्थ- **पार्थ**- हे पृथापुत्र (अर्जुन)! **या**- जो (स्त्रीलिंग), **प्रवृत्तिम्**- कर्म की ओर अग्रसर होना (बढ़ना), **निवृत्तिम्**- कर्म को न करना या उससे दूर हटना, **कार्याकार्ये**- करने योग्य, न करने योग्य के विषय में, **भयाभये**- डर में या निडरता में, **बन्धम्**- बन्धन, **च**- और, **मोक्षम्**- मुक्ति को, **वेत्ति**- जानती है, **सा**- वह, **बुद्धिः**- बुद्धि, **सात्त्विकी**- सत्त्वगुण से युक्त (कही जाती है या होती है)।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्त्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'मोक्षसंन्यासयोग' नामक अष्टादश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- त्रिविध गुणों (सत्व, रजस्-तमस्) से युक्त बुद्धि कैसी होती है? इस विषय में बताते हुए सात्त्विक बुद्धि का वर्णन श्रीकृष्ण इस प्रकार कर रहे हैं-

अनुवाद- हे पृथा पुत्र (अर्जुन)! प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय बन्ध और मोक्ष को जो (बुद्धि) जानती है वह बुद्धि सात्त्विकी है।

व्याख्या- श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जिस मनुष्य की बुद्धि यह विचार कर सके कि प्रवृति मार्ग कौन सा है अर्थात् बन्धन के कारण रूप कर्म मार्ग कौन सा है तथा निवृत्ति मार्ग अर्थात् मोक्ष के कारण रूप संन्यास मार्ग कौन सा है? ऐसा जो बुद्धि जानती है, वह सात्त्विक होती है। इसी तरह करने योग्य कर्म कौन से हैं और न करने योग्य कर्म

कौन से हैं? ऐसा अन्तर जो बुद्धि जानती है वह सात्त्विक होती है। भय और अभय के कारणों को एवं बन्धन और मोक्ष में भेद को जो बुद्धि जानती है वह सात्त्विक होती है। इस प्रकार विवेक शक्ति से युक्त बुद्धि की वृत्ति-विशेष, सात्त्विकी बुद्धि होती है। सत्व गुण के कारण ही बुद्धि सात्त्विक होती है। अतः सत्वगुण से युक्त होना चाहिए।

53. **यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।**
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।। (18/31)

अन्वय- पार्थ! यया धर्मम् अधर्मम् च कार्यम् अकार्यम् च एव अयथावत् प्रजानाति सा बुद्धिः राजसी।

शब्दार्थ- पार्थ- हे पृथा पुत्र (अर्जुन)! **यया-** जिसके द्वारा (स्त्रीलिंग), **धर्मम्-** धर्म को, **च-** और, **अधर्मम्-** अधर्म को, **कार्यम्-** करणीय (करने योग्य) को, **च-** और, **अकार्यम्-** अकरणीय (न करने योग्य) को, **एव-** ही, **अयथावत्-** जैसा है वैसा नहीं, **प्रजानाति-** जानता है, **सा-** वह, **बुद्धिः-** बुद्धि, **राजसी-** रजोगुण से युक्त (होती है)

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'मोक्षसंन्यासयोग' नामक अष्टदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- राजसी बुद्धि का स्वरूप बताते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि-

अनुवाद- हे पृथा पुत्र (अर्जुन)! जिस (बुद्धि) के द्वारा धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य को ही जैसा है वैसा नहीं जानती वह बुद्धि राजसी है।

व्याख्या- जब मनुष्य लोभमूलात्मक रजो गुण के कारण धर्म अधर्म में भेद नहीं जानता, कार्य और अकार्य को नहीं समझ पाता। ऐसी वृत्ति वाली बुद्धि राजसी होती है। राजसी बुद्धि में ऐसा विचार लोभ के कारण होता है क्योंकि वासनाएं इतनी प्रबल होती हैं कि मनुष्य विवेकहीन हो जाता है और केवल कामना की पूर्ति ही उसका ध्येय होता है। जिसके कारण वह अधर्म व अकार्य करने के लिए तत्पर रहता है। ऐसी बुद्धि राजसी कही गई है।

54. **अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।**
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।। (18/32)

अन्वय- पार्थ! या तमसा आवृता अधर्मम् धर्मम् इति मन्यते च सर्वार्थान् विपरीतान् सा बुद्धि तामसी।

शब्दार्थ- पार्थ- हे पृथा पुत्र (अर्जुन)! **या-** जो (स्त्रीलिंग), **तमसा-** तमो गुण से, **आवृता-** ढकी हुई, **अधर्मम्-** अधर्म को, **धर्मम् इति-** धर्म ऐसा, **सर्वार्थान्-** सभी

विषयों को, **विपरीतान्-** विपरीत (उल्टा), **च-** और, **मन्यते-** मानती है, **सा-** वह (स्त्रीलिंग), **बुद्धिः-** बुद्धि, तामसी' तमोगुण वाली (होती है या कहलाती है)

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'मोक्षसंन्यासयोग' नामक अष्टदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- सात्त्विकी व राजसी बुद्धि के स्वरूप वर्णन के अनन्तर अब तामसी बुद्धि के विषय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- हे पृथा पुत्र (अर्जुन) जो अज्ञान के अन्धकार से ढकी हुई अधर्म को धर्म ऐसा मानती है और सभी विषयों को विपरीत जानती है, वह बुद्धि तामसी है।

व्याख्या- हे अर्जुन! तमोगुण से घिरी हुई बुद्धि निषिद्ध कार्य को, जो कार्य नहीं करने चाहिए उन्हें धर्म मान लेती है, शास्त्रविहित मान लेती है तथा जानने योग्य सभी पदार्थों को भी जो विपरीत ही समझती है, वह तामसी है। ऐसी बुद्धि वाले मनुष्य सही बातों को गलत ही समझते है। आज के वातावरण में तामसी बुद्धि के मनुष्य ही अधिक हैं जिसके कारण समाज में अनेक दुराचार हो रहे हैं क्योंकि वे विपरीत आचरण को ही उचित मानते हैं। अतः तमोगुण से रहित होकर तामसी बुद्धि का त्याग कर सात्त्विकी बुद्धि द्वारा ही व्यवहार करना श्रेयस्कर है।

(iii) निर्णय प्रक्रिया

55. **इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।**
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। (18/63)

अन्वय- इति मया गुह्यात् गुह्यतरम् ज्ञानम् ते आख्यातम् एतत् अशेषेण विमृश्य यथा इच्छसि तथा कुरू।

शब्दार्थ- इति- इस प्रकार, **मया-** मेरे द्वारा, **गुह्यात्-** गुप्त या गूढ़ से (भी), **गुह्यतरम्-** और अधिक गुप्त या गूढ़, **ज्ञानम्-** ज्ञान, **ते-** तुम्हें, **आख्यातम्-** बताया गया, **एतत्-** यह, **अशेषेण-** पूर्ण रूप से या पूरी तरह, **विमृश्य-** विचार करके, **यथा-** जैसा, **इच्छसि-** (तुम) चाहते हो, **तथा-** वैसा, **कुरू-** करो।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'मोक्षसंन्यासयोग' नामक अष्टदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- अर्जुन को सम्पूर्ण उपदेश देने के पश्चात् श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि-

अनुवाद- मेरे द्वारा तुम्हें गुह्य से भी गुह्य अत्यन्त गोपनीय रहस्ययुक्त ज्ञान बताया गया है। इसे पूर्णरूप से विचार करके जैसी इच्छा हो वैसा ही करो।

व्याख्या- श्रीकृष्ण यहां अर्जुन को आदेश नहीं दे रहे कि तुम मेरी ही बात मानो अपितु उन्होंने शरणागत अर्जुन के कहने पर उसे उपदेश दिया। किंकर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन के कहने पर उसे उपदेश दिया। ऐसा गोपनीय ज्ञान, उपदेश के माध्यम से अर्जुन को देते हुए श्रीकृष्ण यह नहीं चाह रहे थे कि अर्जुन इनका पालन करे। अपितु वे कह रहे हैं कि इस ज्ञान पर भलीभांति विचार करो और जो तुम्हें अच्छा लगे, तुम्हारी जो इच्छा हो वह करो। एक गुरू के द्वारा शिष्य को शिक्षित करने का एक बड़ा सूत्र यहां दिया गया कि शिष्य की इच्छा पर ही उसे शिक्षित किया जाए और उसे कभी भी किसी भी बात को मानने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए। श्रीकृष्ण का यह कथन "यथा इच्छसि तथा कुरू" उनके मनोवैज्ञानिक होने को इंगित करता है। क्योंकि वह शिष्य को भी अपनी बुद्धि से विचार करने के लिए कह रहे हैं। वे उसकी बुद्धि की विचार शक्ति का विकास करना चाहते हैं, उसे सोचने का समय दे रहे हैं जिसे वह स्वतन्त्र रूप से निर्णय ले सके। यह एक सच्चे गुरू का उदाहरण है। जब शिष्य पर उपदेश बलपूर्वक थोपे जाते हैं तो वह उन्हें भार स्वरूप समझकर पालन नहीं करता अतः पालन करने या न करने का निर्णय शिष्य को देकर उसे विचार हेतु प्रेरित किया गया है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश के माध्यम से अर्जुन को सन्मार्ग दिखाकर उसके शोकमोह का नाश किया जिससे वह अपने कर्त्तव्य का पालन कर सके।

(iv) इन्द्रिय संयम

56. **विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। (2/59)

अन्वय- निराहारस्य देहिनः विषयाः रसवर्जं विनिवर्तन्ते। अस्य रसः अपि परम् दृष्ट्वा निवर्तते।

शब्दार्थ- **निराहारस्य**- निराहारी (विषयों को ग्रहण न करने वाले) के, **देहिनः**- देहधारी जीव की, **विषयाः**- शब्दादि विषय या इन्द्रियां, **रसवर्जम्**- रस (आसक्ति) को छोड़कर, **विनिवर्तन्ते**- निवृत हो जाते हैं, **अस्य**- इसकी, **रसः**- आसक्ति, **परम्**- परमार्थतत्वरूप ब्रह्म को, **दृष्ट्वा**- देखकर, **निवर्तते**- निवृत हो जाती है (समाप्त हो जाती है)।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण स्थित प्रज्ञ के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि स्थित प्रज्ञ अपनी इन्द्रियों को विषयों से इस प्रकार अपने में समेट लेता है जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने में समेट लेता है। इस विषय में यह शंका होती है कि योगी की इन्द्रियां भी विषयों से हट जाती है परन्तु उसके मन में विषयों के प्रति राग रहता है। विषयों के प्रति आसक्ति नष्ट नहीं होती। अतः इस राग का नाश कैसे होता है? इस विषय में कहते हैं कि-

अनुवाद- निराहारी (विषय भोग से विरक्त) देहधारी मनुष्य विषयासक्ति के रस को छोड़कर विषयों से निवृत्त हो जाते हैं। इसका रस (विषयासक्ति) परमतत्व को जानकर निवृत्त हो जाता है।

व्याख्या- स्थित प्रज्ञ वह है जो अपनी कामनाओं का त्याग कर अपने में ही संतुष्ट होकर जीवन व्यतीत करता है तथा अपनी इन्द्रियों को वश में करके जो विषय वासनाओं से दूर हो गया है। परन्तु फिर उसके मन में उनके प्रति राग आसक्ति बनी रहती है क्योंकि मन को विषयों से हटाना कठिन होता है अतः यहां बताया जा रहा है कि जब मनुष्य को परमतत्व का ज्ञान हो जाता है तो उसके अन्तःकरण में विद्यमान विषयों के प्रति राग रस सब नष्ट हो जाता है। "मैं ही वह ब्रह्म हूं" इस प्रकार के ज्ञान द्वारा भाव दृढ़ हो जाने पर उसका विषय ज्ञान समाप्त हो जाता है। अभिप्राय यह है कि यथार्थ ज्ञान हुए बिना राग का नाश संभव नहीं है अतः यथार्थ ज्ञान द्वारा स्थित प्रज्ञ होना आवश्यक है।

57. **रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।**
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। (2/64)

अन्वय- तु विधेयात्मा रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् प्रसादम् अधिगच्छति।

शब्दार्थ- **तु**- तो, **विधेयात्मा**- स्वाधीन अन्तःकरण वाला, **राग**- आसक्ति (प्रेम), **द्वेष**- शत्रुभाव, **वियुक्तैः**- रहित (मनुष्यों के द्वारा), **आत्मवश्यैः**- जिसका अन्तःकरण इच्छानुसार वश में है ऐसे मनुष्यों के द्वारा, **इन्द्रियैः**- इन्द्रियों द्वारा, **विषयान्**- विषयों को (भोगों को), **चरन्**- विचरण करता हुआ (भोगता हुआ), **प्रसादम्**- प्रसन्नता को, **अधिगच्छति**- प्राप्त करता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- विषयों का चिन्तन करने से मनुष्य का नाश हो जाता है अतः यह अनर्थों का मूल माना है। परन्तु जो मनुष्य संयतेन्द्रिय होकर रहता है उसे किस फल की प्राप्ति होती है? इस विषय कहा है कि-

अनुवाद- अन्तःकरण से शिक्षित, राग द्वेष से विरक्त, वशीभूत इन्द्रियों के द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ प्रसन्नता को प्राप्त करता है।

व्याख्या- इस संसार में यथार्थ रूप से वही मनुष्य सुखी व प्रसन्न है जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में किया हुआ है जो सांसारिक राग द्वेष से विरक्त है अर्थात् न तो किसी के प्रति प्रेम रखता है और न ही शत्रुता। जिसका अन्तःकरण ज्ञान से युक्त है। ज्ञान का अर्थ यथार्थ ज्ञान। यथार्थ ज्ञान जिससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है। जब इस प्रकार से ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो ऐसे मनुष्य को सांसारिक सभी विषय निरर्थक प्रतीत होते हैं। वह संसार में तो रहता है परन्तु सांसारिक विषय वासनाओं में लिप्त नहीं होता। इस प्रकार वह परम प्रसन्नता और सुख को प्राप्त कर लेता है। जितेन्द्रिय होकर यथार्थ ज्ञान अर्जित करना ही परम सुख की प्राप्ति का मुख्य उपाय है।

(ग) कर्तृभाव का समर्थन

58. **पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।**
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ (18/3)

अन्वय- महाबाहो! सर्वकर्मणाम् सिद्धये पञ्च कारणानि सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि एतानि मे निबोध।

शब्दार्थ- महाबाहो- हे विशाल भुजाओं वाले (अर्जुन)! **सर्वकर्मणाम्**- सभी कार्यों की, **सिद्धये**- सफलता के लिए, **पञ्च**- पांच, **कारणानि**- कारण, **प्रोक्तानि**- कहे गए हैं, **एतानि**- इन्हें, **मे**- मुझ से, **निबोध**- जानो या समझो।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'मोक्षसंन्यास' नामक अष्टदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- सम्पूर्ण कर्मों की सफलता उनके कारणों पर निर्भर करती है, इसी विषय पर श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि-

अनुवाद- हे महान् भुजाओं वाले (अर्जुन)! सभी कार्यों की सिद्धि के लिए पांच कारण सांख्य सिद्धान्त में बताए गए हैं (इन्हें) मुझसे जानो।

व्याख्या- कर्म के पांच कारण जोकि सांख्य शास्त्र में बताए गए हैं उन्हें जानना आवश्यक है। यहां शंकराचार्य ने भी वेदान्त के लिए सांख्य शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है क्योंकि जिस शास्त्र में जानने योग्य पदार्थों की गणना (संख्या) की जाय उसका नाम सांख्य है और कृतान्त का अर्थ है जहां कृत अर्थात् कर्म का अन्त हो। जब आत्मज्ञान होता है तो सब कर्मों से मुक्ति हो जाती है। इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि उस आत्मज्ञान करवाने वाले सांख्यशास्त्र में, समस्त कर्मों की सिद्धि के लिए बताए हुए पांच कारणों को मुझसे सुनो। वस्तुतः प्रत्येक कार्य का कारण होता है। मनुष्य अकेले किसी कार्य को नहीं कर सकता। इसलिए यहां कर्मों की सिद्धि में पांच कारण बताएं हैं।

59. **अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।**
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ (18/14)

अन्वय- अधिष्ठानम् तथा कर्ता पृथग्विधम् च करणम् विविधाः च पृथक्चेष्टाः एव पञ्चमम् च अत्र दैवम्।

शब्दार्थ- अधिष्ठानम्- आधार या स्थान, **तथा**- और, **कर्ता**- करने वाला, **पृथग्विधम्**- भिन्न-भिन्न प्रकार के, **च**- और, **करण**- साधन, **च**- और, **विविधाः**- अनेक प्रकार की, **पृथक**- अलग-अलग, **चेष्टाः**- गतिविधियां या क्रियाएं, **च**- और, **पञ्चमम्**- पांचवा, **अत्र**- यहां, **दैवम्**- भाग्य (कारण है)।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'मोक्षसंन्यास' नामक अष्टदश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- सब कर्मों की सिद्धि हेतु जो पांच कारण होते हैं उनका उल्लेख करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- अधिष्ठान (कार्य का आधार) कर्ता, कारण (साधन) भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टाएं तथा पांचवा भाग्य (ये पांच कारण है)।

व्याख्या- इच्छा-द्वेष, सुख दुःख और ज्ञान आदि की अभिव्यक्ति का आश्रय शरीर अधिष्ठान है, उपाधिस्वरूप भोक्ता जीव, कर्ता है जो कर्म को करने वाला है। शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध इन विषयों को ग्रहण करने वाले श्रोत्र, त्वक् चक्षु, जिह्वा नासिका आदि बारह भिन्न-भिन्न कारण अर्थात् साधन हैं। श्वास, प्रश्वास आदि अलग-अलग वायु सम्बन्धी क्रियाएं भिन्न-भिन्न चेष्टाएं हैं और इन सबको पूर्ण करने वाला पांचवा कारण दैव है अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुग्राहक अर्थात् उनके द्वारा रूपादि को ग्रहण करने वाले सूर्यादि देव है एवं भाग्य है। इस प्रकार प्रत्येक कर्म में ये पांच कारण होते है तभी कार्य की सिद्धि होती है। किसी एक भी कारण के अभाव में कार्य संभव नहीं है। यदि अधिष्ठान ही नहीं होगा तो कार्य कहां होगा। इसी प्रकार कर्ता नहीं होगा कार्य कौन करेगा? यदि कारण (साधन) नहीं होगा तो कार्य कैसे होगा? यदि चेष्टाएं नहीं करेंगे तो कार्य सम्पन्न कैसे होगा और चारों कारणों को पूर्णतः देने वाला यदि दैव ही विपरीत होगा तो भी कार्य सिद्धि नहीं होगी। अतः ये पांचों कारण विशेषरूप से महत्वपूर्ण है।

60. **शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।**
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।। (18/15)

अन्वय- नरः शरीरवाङ्मनोभिः न्याय्यम् वा विपरीतम् वा यत् कर्म प्रारभते तस्य एते पञ्च हेतवः।

शब्दार्थ- नरः- मनुष्य, **शरीरवाङ्मनोभिः-** शरीर, वाणी एवं मन के द्वारा, **न्याय्यम्-** शास्त्रानुकूल, **वा-** अथवा, **विपरीतम्-** शास्त्र के प्रतिकूल, **यत्-** जो भी, **कर्म-** कार्य, **प्रारभते-** आरम्भ करता है, **तस्य-** उस कार्य के, **एते-** ये, **पञ्च-** पांच, **हेतवः-** कारण होते हैं।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'मोक्षसंन्यास' नामक अष्टादश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- ये पांच कारण किस प्रकार के कर्मों में होते हैं, इसका वर्णन करते हुए कहा है कि-

अनुवाद- मनुष्य शरीर, वाणी और मन से न्यायसंगत या विपरीत जो कर्म प्रारम्भ करता है उसके ये पांच कारण होते हैं।

व्याख्या- मनुष्य मन, वाणी और शरीर से कर्म करता है जैसा कि त्रिविध तप का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया गया है कि मन द्वारा किए गए मानस तप में भाव संशुद्धि आवश्यक है, निर्मल मन से सबके प्रति सद्विचार रखना यह मन द्वारा किया जाने वाला उचित कर्म है परन्तु इसके विपरीत दुर्विचार रखना भी मन के द्वारा किया गया कर्म होता है। शरीर से बड़ों की सेवा शुश्रुषा तथा अभिवादन करना उचित कर्म है परन्तु बड़ों का अपमान विपरीत कर्म है। वाणी द्वारा सत्य, प्रिय, हितकर वाक्य बोलना उचित कर्म है परन्तु अपशब्द बोलना विपरीत है। इन कायिक, वाचिक और मानसिक तप में किए गए कर्मों में भी अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टाएं और दैव ये पांच कारण होते हैं। अभिप्राय यह है कि कोई भी कर्म इन पांच कारणों के बिना संभव ही नहीं है।

61. **तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।**
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।। (18/16)

अन्वय- तत्र एवम् सति यः केवलम् तु आत्मानम् कर्त्तारम् पश्यति सः दुर्मति अकृतबुद्धित्वात् न पश्यति।

शब्दार्थ- तत्र- वहां (कार्य में कारण सम्बन्धी विषय में), **एवम्-** इस प्रकार (पांच कारणों के), **सति-** होने पर, **यः-** जो, केवलं **तु-** केवल मात्र, **आत्मानम्-** अपने आप को, **कर्त्तारम्-** कर्ता, **पश्यति-** देखता है (समझता है), **सः-** वह, **दुर्मति-** बुरी बुद्धि वाला, **अकृतबुद्धित्वात्-** असंस्कृत (अपरिपक्व) बुद्धि के कारण, **न-** नहीं, **पश्यति-** देखता है (समझता है)।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'मोक्षसंन्यास' नामक अष्टादश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- मनुष्य सभी कर्मों का कर्ता प्रायः अपने को समझता है परन्तु वह नहीं होता। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- तो ऐसा (पांच कारणों के) होने पर जो असंस्कृत बुद्धि के कारण वहां केवल अपने को ही कर्ता रूप में देखता है, वह दुर्मति कुछ नहीं देखता (समझता)।

व्याख्या- पहले बताया जा चुका है कि प्रत्येक कर्म के पांच कारण हैं परन्तु फिर भी मनुष्य अज्ञान बुद्धि से स्वयं को ही कर्म का कारण मानने लगता है इस विषय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसा दुर्मति मनुष्य कुछ भी नहीं समझ पाता। अभिप्राय यह है कि असंस्कृत बुद्धि होने के कारण वह वास्तव में आत्मा का या कर्म का तत्व नहीं समझता। उसे दुर्मति इसलिए कहा है क्योंकि उसकी बुद्धि कुत्सित एवं विपरीत है ऐसी बुद्धि वाला मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता अर्थात् नहीं समझता। जैसे तिमिररोग ग्रस्त को अनेक चन्द्रमा दिखाई देते हैं। दौड़ते हुए बालक को बादलों में चन्द्रमा दौड़ता हुआ दिखाई देता है तथा वाहन में बैठे हुए मनुष्य दूसरे के चलने पर अपने को चलता हुआ समझता है। वैसे ही कुत्सित बुद्धि के कारण मनुष्य अपने को ही कर्ता मान लेता है।

62. **नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्।**
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।। (5/8)

अन्वय- तत्ववित् युक्तः पश्यन् श्रृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन् किंचित् न एव करोमि इति मन्यते।

शब्दार्थ- तत्ववित्युक्तः- तत्वज्ञानी (परमात्मा को जानने वाला), **पश्यन्-** देखता हुआ, **श्रृण्वन्-** सुनता हुआ, **जिघ्रन्-** सूंघता हुआ, **अश्नन्-** खाता हुआ, **गच्छन्-** जाता हुआ, **स्वपन्-** सोता हुआ, **श्वसन्-** सांस लेते हुए, **किंचित्-** कुछ भी, **न एव-** नहीं, **करोमि-** कर रहा हूं, **इति-** ऐसा, **मन्ये-** माने।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'कर्मसन्यासयोग' नामक पञ्चम अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण अर्जुन से बताते हैं कि जब तत्व का ज्ञान हो जाता है अर्थात् आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब ज्ञानी को कैसा प्रतीत होता है? इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

अनुवाद- तत्वज्ञानी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, जाता हुआ, सोता हुआ, सांस लेता हुआ (मैं) कुछ भी नहीं कर रहा हूं। ऐसा माने।

व्याख्या- जब आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है तब मनुष्य सभी कर्म करते हुए जैसे देखते, सुनते, खाते, जाते, सोते सांस लेते हुए भी वह यह समझता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूं यह उसका सर्वकर्म संन्यास योग होता है। यहां यह बताया जा रहा है कि कर्तृत्व भाव का त्याग कब होता है? कर्तृत्व भाव को छोड़ना ही वस्तुत: तत्वज्ञान का फल है।

63. **प्रलपन्विसृजनगृह्णन्नुन्मिषन्नपि ।**
इन्द्रियाणींन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। (5/9)

अन्वय- प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन् उन्मिषन्, निमिषन् अपि इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते इति धारयन्।

शब्दार्थ- **प्रलपन्**- बोलते हुए, **विसृजन्**- त्यागते हुए, **गृह्णन्**- ग्रहण करते हुए, **उन्मिषन्**- पलकें खोलते हुए, **निमिषन्**- पलकें मूंदते हुए, **अपि**- भी, **इन्द्रियाणि**- इन्द्रियां, **इन्द्रियार्थेषु**- इन्द्रियों के विषयों में, **इति**- ऐसा, **धारयन्**- ऐसा समझते हुए।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'कर्मसन्यासयोग' नामक पञ्चम अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- कर्तृत्व भाव से मुक्ति के विषय में ही बताते हुए श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि-

अनुवाद- बोलते हुए, त्यागते हुए, ग्रहण करते हुए, पलकें खोलते हुए, पलकें मूंदते हुए भी केवल इन्द्रियां अपने विषयों में व्यवहार कर रही हैं। ऐसा समझते हुए (यह मानें कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूं)।

व्याख्या- यहां भी यही बताया गया है कि जो भी मनुष्य हर पल, हर क्षण जो कुछ भी क्रियाएं कर रहा है जैसे बोलना, देना, लेना, पलक झपकना, मूंदना आदि इन्हें यह जाने कि मैं यह कर्म नहीं कर रहा अपितु इन्द्रियां अपने विषयों में व्यवहार कर रही है। यह भी कर्तृत्व भाव के त्याग का एक रूप है। तत्वज्ञानी ही ऐसा सोचने में समर्थ होता है क्योंकि वह सब इन्द्रियों और अन्त:करण की चेष्टारूप कर्मों में अकर्म देखता है। वह अपने में कर्मों का अभाव देखता है। जैसे मृगतृष्णिका में जल समझकर उसको पीने के

लिए प्रवृत्त हुआ मनुष्य उसमें जल के अभाव का ज्ञान हो जाने पर फिर भी वहां जल पीने के लिए प्रवृत्त नहीं होता। अभिप्राय यह है कि तत्वज्ञान हो जाने पर कर्तृत्व भाव स्वत: ही समाप्त हो जाता है।

(vi) निष्कामभाव

64. **योगस्थ: कुरू कर्माणि संङ्ग त्यक्त्वा धनंजय।**
सिद्धयसिद्धयो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। (2/48)

अन्वय- धनंजय:! संगम त्यक्त्वा सिद्धयसिद्धयो: सम: भूत्वा योगस्थ: कर्माणि कुरू समत्वं योग: उच्यते।

शब्दार्थ- **धनंजय:**- हे अर्जुन! (सभी जनपदों को जीत कर धन लाने वाला तथा धन के मध्य में स्थिति), **संगम्**- आसक्ति (प्रेम), **त्यक्त्वा**- त्याग कर, **सिद्धयसिद्धयो:**- सफलता और असफलता में, **सम:**- समान, **भूत्वा**- होकर, **योगस्थ:**- योग में स्थित हुआ, **कर्माणि**- कार्यों को, **कुरू**- करो, **समत्वं**- समता के भाव वाला, **योग:**- योग (द्वन्द्व सहिष्णुता), **उच्यते**- कहा जाता है

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- निष्काम कर्म करने के लिए प्रेरित करते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि कर्मफल से प्रेरित होकर कर्म नहीं करने चाहिए। तो यह जिज्ञासा होती है कि फिर किस प्रकार कर्म करें? इस विषय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- हे धनंजय (अर्जुन)! आसक्ति को छोड़कर सिद्धि और असिद्धि दोनों में समान होकर कर्म योग में स्थित होकर कार्यों को करो (यही) समत्व योग कहा जाता है।

व्याख्या- कर्मफल के प्रति प्रीति या संग को छोड़कर अपना कर्म करते रहो तथा सिद्धि अर्थात् निष्काम भाव से कर्म के फल, ज्ञानप्राप्ति रूप सफलता तथा असिद्धि अर्थात् ज्ञान प्राप्ति का न होना, इन दोनों परिस्थितियों समान होकर रहना ही समत्व (समता का भाव) योग है। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य सिद्धि-प्राप्ति होने पर अति प्रसन्न होता है और न होने पर निराश हो जाता है परन्तु यह योग नहीं है। समभाव से कार्य करते रहना ही योग है। यदि मनुष्य कर्म के फल का ध्यान न करते हुए निष्काम भाव से कर्म करता है तो अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होती है। समत्व भाव युक्त को श्रीकृष्ण ने स्थितधी कहा है-

दुःखेष्वनुद्विग्नमनः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

इस प्रकार समत्वयोग का वर्णन यहां किया गया है।

65. **प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।**
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। (2/55)

अन्वय- पार्थ! यदा मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति तदा आत्मना एव आत्मनि तुष्टः स्थितप्रज्ञः उच्यते।

शब्दार्थ- पार्थ- हे पृथा पुत्र (अर्जुन)! **यदा-** जब, **मनोगतान्-** मन में आए हुए (स्थित), **सर्वान्-** सभी, **कामान्-** इच्छाओं को, **प्रजहाति-** छोड़ देता है, **तदा-** तब, **आत्मना-** अपने से, **एव-** ही, **आत्मनि-** अपने में, **तुष्टः-** प्रसन्न हुआ, संतुष्ट हुआ, **स्थितप्रज्ञः-** स्थिर बुद्धि वाला, **उच्यते-** कहलाता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण जानने की इच्छा से अर्जुन ने जब प्रश्न किया-

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।

तब इसका उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

अनुवाद- हे अर्जुन! जब (मनुष्य) मन में स्थित सभी कामनाओं को त्याग देता है (और) अपने आप से अपने में ही संतुष्ट रहता है तब (वह) स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

व्याख्या- जब मनुष्य का मन विषयों के प्रति आकृष्ट नहीं होता। उसकी इन्द्रियां भी उसके नियंत्रण में होती है और उसके मन में कोई भी इच्छा विषयों के प्रति नहीं रहती। उनकी प्राप्ति न होने से उसका मन व्याकुल नहीं होता। वह जब निष्काम होकर रहने लगता है तब वह अपने आप अपने में ही संतुष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। संतुष्ट व्यक्ति तभी होता है जब वह इच्छाओं का त्याग कर देता है। स्थित प्रज्ञ ही अपनी विवेक बुद्धि द्वारा इच्छाओं का त्याग करके अपने में ही प्रसन्न रह सकता है। वस्तुतः इच्छाओं के कारण ही मनुष्य सांसारिक विषयों की ओर अग्रसर होता है और वे मनोनुकूल प्राप्त नहीं होते तो दुःखी हो जाता है। दुःखी, विषादी, चिन्ताग्रस्त की बुद्धि भ्रमित हो जाती है। ऐसी दशा में वह स्थितप्रज्ञ नहीं कहलाएगा। अतः स्थितप्रज्ञ होने के लिए मनोकामनाओं का त्याग करना एवं आत्मसंतोष आवश्यक है।

(vii) परहितभाव

66. **सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।**
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।। (3/25)

अन्वय- भारत! कर्मणि सक्ताः अविद्वांसः यथा कुर्वन्ति तथा असक्तः विद्वान् लोकसंग्रहम् चिकीर्षुः कुर्यात्।

शब्दार्थ- भारत!- हे भरतवंशी! (अर्जुन), **कर्मणि-** कर्म में, **सक्ताः-** आसक्त, **अविद्वांसः-** अज्ञानी, **यथा-** जैसे, **कुर्वन्ति-** (राग युक्त) करते हैं, **तथा-** वैसे, **असक्तः-** निरासक्त (राग रहित), **विद्वान्-** ज्ञान, **लोकसंग्रहम्-** लोक कल्याण, **चिकीर्षुः-** करने की इच्छा से, **कुर्यात्-** करें

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- जब श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मनुष्य को हमेशा कर्म करते रहना चाहिए। मैं भी इसीलिए कर्म करता हूं। यद्यपि मुझे कोई इच्छा नहीं है परन्तु जो लोग मेरा अनुकरण करते है वे भी कर्म नहीं करेंगे इसलिए निष्काम भाव से परार्थभाव से कर्म करते रहना चाहिए। इसलिए-

अनुवाद- हे भरतवंशी अर्जुन! कर्म में आसक्त अज्ञानी लोग जैसे (कर्म) करते हैं वैसे अनासक्त होकर ज्ञानी व्यक्ति लोकसंग्रह (लोक कल्याण) करने की इच्छा से करें।

व्याख्या- यहां यह बताया गया है कि ज्ञानी व्यक्ति को निष्काम भाव से लोक कल्याण की इच्छा से कर्म करते रहना चाहिए। अज्ञानी तो कर्म फल की आसक्ति के कारण कर्म करते हैं परन्तु ज्ञानी कर्मफल से विरक्त होकर कर्म करता रहे। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्य को कर्म करते रहना चाहिए। ऐसा श्रीकृष्ण अर्जुन को इसलिए कह रहे हैं कि अर्जुन युद्ध में अपने सम्बन्धियों की मृत्यु होने की आशंका से युद्ध नहीं करना चाह रहा था और वह ऐसा राज्य भी नहीं चाह रहा था जो उसे बन्धु-बान्धवों के रक्तपात से प्राप्त हो। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि तुम्हें कर्म में आसक्ति नहीं है तो भी तुम युद्धरूपी कर्म लोकसंग्रह के लिए करो। व्यक्तिगत लाभ न सोचकर सार्वजनिक कल्याण को दृष्टि में रखकर अधर्म के प्रति तुन्हें युद्ध कर्म करना चाहिए। इस प्रकार यहां सतत कर्मशील होने का उपदेश दिया गया है।

वर्ग 'स'

भक्ति द्वारा आत्मप्रबन्धन

प्रथम अन्विति

(i) अहंभाव का त्याग

67. कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। (2/7)

अन्वय- कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव: धर्मसंमूढचेता: त्वां पृच्छामि यत् निश्चितं श्रेय: स्यात् तत् मे ब्रूहि अहम् ते शिष्य:! त्वां प्रपन्नं माम् शाधि।

शब्दार्थ- कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:- कायरता रूपी दोष से आहत हुए स्वभाव वाला, **धर्मसंमूढचेता:-** धर्म के विषय में भ्रमित चित्त वाला, **त्वाम्-** तुम्हें, **पृच्छामि-** पूछ रहा हूं, **यत्-** जो, **निश्चितम्-** निश्चित रूप से, **श्रेय:-** कल्याणकारी, **स्यात्-** हो, **तत्-** वह, **मे-** मुझे! **ब्रूहि-** बताइए, **अहम्-** मैं, **ते-** तुम्हारा, **शिष्य:-** शिष्य, **त्वां-** तुम्हें (तुम्हारी), **प्रपन्नम्-** प्राप्त हुए (शरण में आए हुए), **माम्-** मुझे, **शाधि-** शिक्षित करो (सिखाओ या समझाओं)।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्त्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्‌भगवद्‌गीता" के 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय से उद्‌धृत है।

प्रसंग- कुरुक्षेत्र की रणभूमि में स्थित शोक-मोहग्रस्त किंकर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि हे मधुसूदन! रणभूमि में पितामह भीष्म और गुरू द्रोण के साथ मैं किस प्रकार बाणों से युद्ध करूंगा, क्योंकि ये दोनों मेरे पूजनीय हैं तथा इन्हें मारकर राज्य लेने से तो भिक्षा मांगकर संसार में रहना अधिक अच्छा है और यह भी नहीं ज्ञात कि इस युद्ध में कौन जीतेगा? अत: ऐसे युद्ध से क्या लाभ? अर्जुन फिर अपने को कृपण समझते हुए श्रीकृष्ण की शरण में जाकर कहता है-

अनुवाद- कायरतारूप दोष से आहत हुए स्वभाव वाला और धर्म का निर्णय करने में मोहितचित्त या भ्रमित हुआ तुमसे पूछता हूं जो निश्चित रूप से हितकर बात हो वह मुझे बताइए। मैं तुम्हारा शिष्य हूं। शरण में आए हुए मुझे शिक्षित करो।

व्याख्या- जब मानसिक द्वन्द्व की स्थिति होती है तो मनुष्य की बुद्धि भ्रमित हो जाती है। मन में यह उहापोह रहता है कि यह ठीक है या नहीं या मुझे यह कार्य करना चाहिए कि नहीं? इस मानसिक द्वन्द्व का कारण रागद्वेष होता है। अर्जुन की भी स्थिति कुछ ऐसी ही है युद्ध क्षेत्र में युद्ध के लिए पहुंचकर यह कहना कि मैं युद्ध नहीं करूंगा यह हास्यास्पद है परन्तु इस स्थिति में यदि कोई उचित मार्गदर्शक मिल जाए तो व्यक्ति उस मार्ग का अनुसरण कर लेता है। इसलिए अर्जुन भी श्रीकृष्ण से अपनी मनोव्यथा कहता है और अपने आपको उनकी शरण में समर्पित करके उनसे सन्मार्ग दिखाने को विनती करता है और कहता है कि मैं तुम्हारा शिष्य हूं तुम मुझे शिक्षित करो। वस्तुत: सन्मार्ग तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य विनम्रभाव से गुरू की शरण में जाता है अपने अहंकार का त्याग कर स्वयं को मूढ़ मानकर ही सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मन में जिज्ञासा व शिष्यत्व को देखा तभी उसे उपदेश दिया।

68. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम्।। (9/27)

अन्वय- कौन्तेय! यत् करोषि, यत् अश्नासि, यत् जुहोषि, यत् ददासि, यत् तपस्यसि, तत् मदर्पणम् कुरूष्व।

शब्दार्थ- कौन्तेय- हे कुन्ती पुत्र! (अर्जुन), **यत्-** जो, **करोषि-** करते हो, **यत्-** जो, **अश्नासि-** खाते हो, **यत्-** जो, **जुहोषि-** आहुति देते हो या हवन करते हो, **यत्-** जो, **ददासि-** देते हो, **यत्-** जो, **तपस्यसि-** तप करते हो, **तत्-** वह, **मदर्पणम्-** मुझे अर्पण, **कुरूष्व-** करो

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्त्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्‌भगवद्‌गीता" के 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नामक नवम् अध्याय से उद्‌धृत है।

प्रसंग- किंकर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन ने पूर्णरूप से समर्पित होकर श्रीकृष्ण की शरण में शिक्षा के लिए प्रार्थना की तो श्रीकृष्ण ने कहा कि-

अनुवाद- हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो हवन करते हो, जो कुछ देते हो, जो तप करते हो वह मुझे अर्पित करो।

व्याख्या- श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जो कुछ भी तुम कर्म करते हो वह मुझे अर्पित करते हुए करो क्योंकि जब तक तुम अपना बोझ अपने कन्धों पर उठाते रहोगे तब तक कर्म के बन्धन से नहीं छूटोगे। कर्म करते चलो और उसे भगवान को अर्पित करते जाओ। जब कर्म से अहंकारबुद्धि हट जाएगी तब वह कर्म तुम्हारा न रहकर भगवान का हो जाएगा। इस प्रकार ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने से अहंभाव समाप्त हो जाता है। जो कि आत्मप्रबन्धन के लिए अत्यावश्यक है। आत्मप्रबन्धन के लिए समर्पण भाव अहंभाव की समाप्ति होने पर स्वतः ही आ जाता है।

69. **तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।**
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। (8/7)

अन्वय- तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युध्य च मयि अर्पितमनोबुद्धिः अंसंशयम् माम् एव एष्यसि।

शब्दार्थ- तस्मात्- इस कारण, **सर्वेषु-** सब (में), **कालेषु-** कालों में, **माम्-** मुझे, **अनुस्मर-** याद कर, **च-** और, **युध्य-** युद्ध कर, **मयि-** मुझमें, **अर्पितमनोबुद्धिः-** मन तथा बुद्धि को अर्पित कर देने वाला, **अंसंशयम्-** निस्सन्देह ही, **माम्-** मुझे, **एव-** ही, **एष्यसि-** प्राप्त कर लेगा।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'तारकब्रह्मयोग' नामक अष्टम् अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण भक्तियोग का उपदेश देते हुए भक्त के स्वरूप का वर्णन करते हैं और प्राणी जिस-जिस का स्मरण अन्त समय में करता है वह उसे ही प्राप्त करता है क्योंकि अन्तकाल की भावना ही अन्य शरीर की प्राप्ति का कारण है, इसलिए वे कहते हैं-

अनुवाद- इसलिए सब कालों में मुझे स्मरण करो और युद्ध करो। मुझमें मन तथा बुद्धि अर्पित कर देने से निस्संदेह मुझको ही प्राप्त हो जाओगे।

व्याख्या- ईश्वर का स्मरण करने से ईश्वर को ही प्राप्त हो जाओगे, ऐसा उपदेश श्रीकृष्ण अर्जुन को इसलिए दे रहे हैं क्योंकि जिस भाव से भक्त ईश्वर का स्मरण करता है वह उसी प्रकार का फल पाता है। जो हर पल हर क्षण ईश्वर चिन्तन करता रहता है वह भी ईश्वरमय हो जाता है। इसलिए मनुष्य को अपने जीवन में शास्त्रानुसार स्वधर्मरूप युद्ध (संघर्ष) करते हुए ईश्वर का स्मरण करते रहना चाहिए। ईश्वर में मन तथा बुद्धि अर्पित करने से ईश्वर की प्राप्ति हो जाएगी अर्थात् मन एवं बुद्धि से ईश्वर का चिन्तन

ही ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग है। अर्जुन को अपनी मन बुद्धि ईश्वरार्पण करके युद्ध करने की प्रेरणा दी गई। इस प्रकार कार्य करने से मनुष्य को उसके फल की चिन्ता नहीं होती क्योंकि उसका उत्तरदायित्व ईश्वर पर हो जाता है।

70. **मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।**
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। (11/55)

अन्वय- पाण्डव! यः मत्कर्मकृत् मत्परमः मद्भक्तः सङ्गवर्जितः सर्वभूतेषु निर्वैरः सः माम् एति।

शब्दार्थ- पाण्डव!- हे पाण्डु पुत्र! (अर्जुन), **यः-** जो, **मत्कर्मकृत्-** मेरे लिए कर्म करने वाला, **मत्परमः-** मरे (ध्यान) में लगा हुआ, **मद्भक्तः-** मेरा भक्त, **सङ्गवर्जितः-** आसक्ति का त्याग करने वाला, **सर्वभूतेषु-** सभी प्राणियों में (के प्रति), **निर्वैरः-** वैर रहित, **सः-** वह, **माम्-** मुझे, **एति-** प्राप्त करता है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'विश्वरूपदर्शन' नामक एकादश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- मन बुद्धि व कर्म को ईश्वरार्पण करने का फल बताकर श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि-

अनुवाद- हे पाण्डु पुत्र अर्जुन! जो मेरे लिए कर्म करता है, मेरे (ध्यान) में लगा हुआ है, ऐसा मेरा भक्त जो आसक्ति रहित, सभी प्राणियों के प्रति शत्रुता रहित है, वह मुझे प्राप्त करता है।

व्याख्या- जो मनुष्य सभी काम ईश्वर के निमित्त (लिए) करता है। स्वार्थ हेतु नहीं करता और ईश्वर को ही अर्थात् मुझे ही परमगति समझता है। मेरा ही भक्त है अर्थात् जो सब प्रकार से सब इन्द्रियों द्वारा सम्पूर्ण उत्साह से मेरा ही भजन करता है तथा जो धन, पुत्र, मित्र, स्त्री और बन्धु वर्ग के प्रति स्नेह से रहित है, जो सब प्राणियों के प्रति वैरभाव से रहित है अर्थात् अपना अत्यन्त अनिष्ट करने की चेष्टा करने वालों में भी जो शत्रुभाव से रहित है वह मुझे प्राप्त करता है। उसकी दूसरी कोई गति नहीं होती। इस प्रकार भगवान के लिए कर्म करना उसमें परायण होना, उसका भक्त होकर सांसारिक आसक्ति एवं वैर विरोध रहित होना ही ईश्वर प्राप्ति का मार्ग है।

71. **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। (2/47)

अन्वय- ते कर्मणि एव अधिकारः फलेषु कदाचन मा। कर्मफलहेतुः मा भूः, ते अकर्मणि संगः मा अस्तु।

शब्दार्थ- **ते-** तुम्हारा, **कर्मणि-** कर्म में, **एव-** ही, **अधिकारः-** अधिकार, **फलेषु-** फलों (कर्म के फल) में, **कदाचन-** कभी भी, **मा-** मत हो (न हो), **कर्मफलहेतुः-** कर्मफल के कारण, **मा-** मत, **भूः-** हो (बनो), **ते-** तुम्हारी, **अकर्मणि-** कर्म न करने में, **संगः-** रुचि (प्रीति), **मा-** मत, **अस्तु-** हो।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- अर्जुन को निष्काम भाव से कर्म करने की प्रेरणा देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

अनुवाद- तुम्हारा कर्म (करने) में ही अधिकार है (कर्म के) फलों में कभी नहीं, कर्म के फल का कारण मत बनो तुम्हारा कर्म न करने में प्रीति नहीं हो।

व्याख्या- मनुष्य के मन में कोई न कोई कामना होती है, उसी के अनुरूप वह कर्म में प्रवृत्त होता है और फल पर ही केन्द्रित हो जाता है। परिणामस्वरूप कर्म को सुचारू रूप से नहीं कर पाता। जब कर्म सम्यक् रूप से नहीं होगा तो उसका फल भी अच्छा नहीं होगा। अतः केवल अच्छा कर्म करने के लिए ही मनुष्य का अधिकार है। उसे फल के विषय में सोचने का अधिकार नहीं है। इसलिए मनुष्य को कर्म के फल का कारण नहीं बनना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि फल के विषय में सोचकर कर्म सुचारू रूप से नहीं हो पाता परिणामतः उसका फल भी कर्म के आधार पर ही मिलता है। इसलिए केवल सुचारू रूप से कर्म ही करना चाहिए क्योंकि फल के विषय में सोचते-सोचते कर्म में बाधाएं आ जाती हैं। जैसा कर्म होगा वैसा ही फल होगा। कर्मरूपी बीज यदि उत्तम श्रेणी का होगा और उससे सम्बन्धित सभी कार्य सींचना आदि समुचित होंगे तो फल भी अच्छा होगा। यह एक वैज्ञानिक तथ्य भी है कि जैसी क्रिया होती है वैसी ही प्रतिक्रिया। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि फल की चिन्ता छोड़कर केवल कर्म करते रहो और तुम्हारा कर्म न करने में रूचि न हो अर्थात् तुम्हारी हमेशा कर्म करने में ही रूचि हो। यहां सतत कर्मशील रहने की शिक्षा दी गई है। इस प्रकार यहां बताया गया है कि कर्मफल से प्रेरित होकर कर्म नहीं करने चाहिए।

(ii) परमात्मा सानिध्य का मार्ग

72. यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धायार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।। (7/21)

अन्वय- यः यः भक्तः याम् याम् तनुम् श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति अहम् तस्य तस्य श्रद्धाम् ताम् एव अचलाम् विदधामि।

शब्दार्थ- **यःयः-** जो,जो, **भक्तः-** भक्त, **याम्-याम्-** जिस जिस को, **तनुम्-** शरीर (रूप) को, **श्रद्धया-** श्रद्धा से, **अर्चितुम्-** पूजन के लिए, **इच्छति-** चाहता है, **अहम्-** मैं, **तस्य-तस्य-** उस उसकी, **श्रद्धाम्-** श्रद्धा को, **ताम्-** उस (देवता) के प्रति, **एव-** ही, **अचलाम्-** स्थिर, **विदधामि-** कर देता हूं।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'ज्ञानविज्ञानयोग' नामक सप्तम् अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- मनुष्य विशेष कामना से विशेष देवता की पूजा अर्चना करता है ऐसे सकामी व्यक्ति की श्रद्धा के विषय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि -

अनुवाद- जो जो भक्त जिस जिस रूप (शरीर) को श्रद्धापूर्वक पूजा करना चाहता है उस उस (रूप) की मैं उस ही श्रद्धा को (देवता के प्रति) स्थिर कर देता हूं।

व्याख्या- यहां यह बताया गया है कि मनुष्य अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए देवताओं के जिस रूप की श्रद्धापूर्वक भक्ति करता है मैं उस रूप वाले देवता के प्रति उसकी श्रद्धा को स्थिर कर देता हूं। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति किसी भी रूप में श्रद्धापूर्वक देवता की पूजा करता है मैं उसकी श्रद्धा को उस देवता के प्रति स्थिर कर देता हूं उसके मन में देवता के प्रति भक्तिभाव को दृढ़कर देता हूं। यहां यह बताया गया है कि भक्ति में श्रद्धा का होना आवश्यक है और ईश्वर तो एक है उसके अनेक नाम हैं चाहे जिस नाम से उसका स्मरण करो वह ईश्वर का ही स्मरण है। जैसे एक छात्र की घर में पुत्र, भाई के रूप में पहचान होती है महाविद्यालय में अनुक्रमांक या कक्षा से उसकी पहचान है उसी प्रकार परमेश्वर एक है उसके नाम अनेक है चाहे किसी भी रूप से अर्चना की जाए वह उस परमेश्वर की ही अर्चना होती है परन्तु श्रद्धा होना आवश्यक है। इस प्रकार यहां सार्वभौम धर्म का परिचय दिया गया है और धर्म के प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित की गई है।

73. ये यथा मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहम्।
ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। (4/11)

अन्वय- पार्थ! ये माम् यथा प्रपद्यन्ते अहं तान् तथा एव भजामि! मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते।

शब्दार्थ- **पार्थ!-** हे पृथा पुत्र (अर्जुन)! **ये-** जो, **माम्-** मुझे, **यथा-** जैसे (जिस प्रकार), **प्रपद्यन्ते-** प्राप्त करते हैं या पूजते हैं, **अहं-** मैं, **तान्-** उन्हें, **तथैव-** उसी प्रकार, **भजामि-** स्वीकार करता हूं, **मनुष्याः-** मानव, **सर्वशः-** सब तरह से, **मम-** मेरे, **वर्त्म-** मार्ग (का), **अनुवर्तन्ते-** अनुसरण करते हैं।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'ज्ञानकर्मसंन्यास' नामक चतुर्थ अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि कौन से मनुष्य मुझे कैसे प्राप्त करते हैं? मैं किसी के प्रति भेदभाव नहीं करता। इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि -

अनुवाद- हे पृथा पुत्र अर्जुन! जो मुझे जैसे प्राप्त होते हैं मैं उन्हें वैसे ही स्वीकार करता (अपनाता) हूं। मनुष्य सब ओर से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।

व्याख्या- जो भक्त जिस प्रकार से जिस प्रयोजन से जिस फल की इच्छा से मेरी शरण में आते हैं मैं उनको उनकी कामना के अनुसार ही फल देकर उन पर कृपा करता हूं क्योंकि उन्हें मोक्ष की इच्छा नहीं होती। एक ही मनुष्य में मोक्ष व फल की इच्छा दोनों एक साथ नहीं हो सकते। इसलिए जो फल की इच्छा वाले हैं उन्हें फल देकर, जो फल की इच्छा न करके शास्त्रानुसार कर्म करते हैं और मोक्ष चाहते हैं उनको ज्ञान देकर, जो ज्ञानी संन्यासी और मुमुक्षु हैं उन्हें मोक्ष देकर तथा दुःखियों के दुःख दूर करके इस प्रकार जो जिस कामना से या भाव से मेरी शरण में आता है मैं उसी भाव से उन्हें अपना बना लेता हूं और उनकी कामना पूर्ति करता हूं। किसी राग द्वेष या मोह के कारण मैं किसी को नहीं अपनाता। इस प्रकार सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरा ही अनुसरण करते हैं। मेरे द्वारा बताए गए मार्ग पर चलते हैं। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है उसको वैसी ही सिद्धि (सफलता) प्राप्त होती है यही अभिप्राय है।

74. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।। (9/26)

अन्वय- यः मे भक्त्या पत्रं पुष्पं फलं तोयं प्रयच्छति अहम् प्रयतात्मन भक्त्या उपहृतम् तद् अश्नामि।

शब्दार्थ- यः:- जो, **मे**- मुझे, **भक्त्या**- भक्तिभावयुक्त, **पत्रम्**- पत्ता, **पुष्पम्**- फूल, **तोयम्**- जल, **प्रयच्छति**- प्रदान करता है, **अहम्**- मैं, **प्रयतात्मन**- पवित्र अन्तःकरण वाले की, **भक्त्या**- भक्ति से, **उपहृतम्**- समर्पित, **तद्**- उसको (जो दिया गया), **अश्नामि**- भोगता हूं (ग्रहण करता हूं)।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नामक नवम् अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- भक्त यदि श्रद्धापूर्वक भक्ति करता है तो उसे अनन्तफल की प्राप्ति होती है और भक्ति करने के लिए कोई कठिन उपाय नहीं है। सुख पूर्वक सरल साधनों से भी भक्ति हो सकती है ऐसा श्रीकृष्ण अर्जुन से इस प्रकार कहते हैं -

अनुवाद- पत्र, पुष्प, फल, जल जो (भक्त) मुझे भक्तिपूर्वक देता है ऐसे पवित्र अन्तःकरण वाले (भक्त) की भक्ति से भेंट की गई वस्तु (मैं) को ग्रहण करता हूं।

व्याख्या- सच्ची भक्ति वही है जो श्रद्धापूर्वक की जाए। भक्ति में अर्पित वस्तुओं का मूल्य नहीं देखा जाता। केवल धन के प्रदर्शन द्वारा की गई भक्ति स्वीकार्य नहीं होती अपितु श्रद्धाभाव का होना अत्यावश्यक है। अर्जुन को श्रीकृष्ण यही बताना चाहते हैं कि मुझे मेरा भक्त यदि श्रद्धा से तथा सम्पूर्ण भक्ति भाव से पत्ती, फूल, फल और जल भी अर्पित करता है तो मैं उसके भाव से प्रसन्न होकर उसके द्वारा दी गई वस्तुओं को उपहार के रूप में ग्रहण कर लेता हूं और उसकी भक्ति से प्रसन्न हो जाता हूं। यहां यह बताया गया है कि भक्ति में धन आवश्यक नहीं होता भाव आवश्यक होता है। आजकल मनुष्य धन का प्रदर्शन करते हुए बहुत आडम्बर युक्त भक्ति करने में अपने को बड़ा मानता है और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्ति हेतु उसकी भक्ति होती है परन्तु यदि उसके मन में श्रद्धाभाव नहीं है तो ऐसी भक्ति व्यर्थ है। ईश्वर भी इसे स्वीकार नहीं करता। ईश्वर की भक्ति करने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को है इसमें किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं है केवल श्रद्धा का होना अनिवार्य है।

(iii) नैतिक गुणों की प्राप्ति

75. अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरू यतात्मवान्।। (12/11)

अन्वय- अथ एतद् अपि कर्तुम् असमर्थः असि। ततः यतात्मवान् मद्योगम् आश्रितः सर्वकर्मफलत्यागम् कुरू।

शब्दार्थ- अथ- फिर भी या इसके बाद भी, **एतद्**- यह, अपि- भी, **कर्तुम्**- कर सकने में, **असमर्थः**:- असमर्थ, **असि**- हो, **ततः**:- तो फिर, **यतात्मवान्**- जितेन्द्रिय, **मद्**- मेरे साथ, **योगम्**- योग (पर) **आश्रितः**:- आश्रित (होकर), **सर्वकर्मफलत्यागम्**- सभी कर्मों के फलों के त्याग को, **कुरू**- करो

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'भक्तियोग' नामक द्वादश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- भक्तियोग में ईश्वर में चित्त लगाना और उसका अभ्यास करते रहने का उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि-

अनुवाद- और यदि इसको भी करने के लिए असमर्थ हो तो फिर जितेन्द्रिय मेरे साथ योग का आश्रय लिए हुए समस्त कर्मों के फल का त्याग कर दो।

व्याख्या- यहां यह बताया गया है कि यदि भक्तियोग में भी मन स्थिर नहीं होता और अभ्यास द्वारा भी मनुष्य भगवान में मन को स्थिर नहीं कर पाता तो कर्म का फल त्याग कर कर्म करे। वस्तुतः कर्म, भक्ति, ज्ञान ये साधन कर्म के फल का त्याग करने में सहायक हैं। कर्मयोगी कर्म के फल में आसक्ति छोड़ देता है। भक्तियोगी कर्म को भगवान के अर्पण कर देता है। ज्ञानयोगी कर्म को ही छोड़ने का प्रयत्न करता है परन्तु कर्म को तो छोड़ नहीं सकता इसलिए उसे भी कर्म का फल ही छोड़ना पड़ता है। इस प्रकार जब मनुष्य संयतात्मा अर्थात् मन को वश में किए हुए समस्त कर्मों के फल का त्याग कर देता है तो वह ईश्वर से सायुज्य प्राप्त कर लेता है। इसलिए ज्ञानयुक्त ध्यान से भी कर्म फल का त्याग अधिक श्रेष्ठ है। इस प्रकार कर्मों में लगे हुए अज्ञानी मनुष्य के चित्त की स्थिरता, अभ्यासदि का अनुष्ठान करने में असमर्थ होने पर ही सर्वकर्मों के फल त्याग रूप कल्याणसाधन का उपदेश किया गया है क्योंकि कर्मफल त्याग अनुष्ठान करने योग्य है।

76. **अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।**
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।। (12/13)

77. **संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।**
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। (12/14)

अन्वय- यः सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा, मैत्रः करुणः निमर्मः निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी सततम् सन्तुष्टः योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः च मयि एव अर्पितमनोबुद्धिः सः मद्भक्तः मे प्रियः।

शब्दार्थ- **यः**- जो, **सर्वभूतानाम्**- सभी प्राणियों के (प्रति), **अद्वेष्टा**- द्वेष रहित, **मैत्रः**- मित्रभाव, **करुणः**- दयालु, **निमर्मः**- ममता रहित, **निरहङ्कारः**- अहंकार रहित, **समदुःखसुखः**-दुख और सुख में समान, **क्षमी**- क्षमावान्, **सततम्**- निरन्तर (सदा), **संतुष्टः**- संतोष करने वाला, **योगी**- योग करने वाला, **यतात्मा**- संयमी, **दृढ़निश्चयः**- पक्के निश्चय वाला, **च**- और, **मयि**- मुझसे, **एव**- ही, **अर्पितमनोबुद्धिः**- मन और बुद्धि को अर्पित करने वाला, **सः**- वह, **मद्**- मेरा, **भक्तः**- उपासक, **मे**- मुझे, **प्रियः**- प्रिय (प्यारा है)।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्त्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'भक्तियोग' नामक द्वादश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- श्रीकृष्ण को कौन सा भक्त प्रिय है उसके लक्षण बताते हुए कहते हैं कि-

अनुवाद- जो सभी प्राणियों के प्रति द्वेष रहित, मित्रता रखने वाला दयावान, ममता रहित, अहंकार रहित, दुःख और सुख में समान व्यवहार वाला, क्षमावान्, निरन्तर सन्तुष्ट रहने वाला, योगी, संयमी, दृढ़निश्चय वाला, मुझमें मन और बुद्धि को अर्पित करने वाला वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

व्याख्या- श्रीकृष्ण को वही भक्त प्रिय है जो किसी भी प्राणी के प्रति शत्रुता भाव नहीं रखता अपितु मैत्री भाव से रहता है। जो दयावान है, प्राणियों के प्रति जो निष्ठुर नहीं है, क्रूरता का व्यवहार नहीं करता, ममता रहित होकर भेदभाव नहीं करता, जिसमें किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं है क्योंकि अहंकार व्यक्ति का दोष माना जाता है। दुःख और सुख में जो एक जैसा व्यवहार करता है। दुःख आने पर निराश नहीं होता और सुख आने पर बहुत खुश नहीं होता अपितु दुःख सुख के चक्र को समझते हुए समभाव से रहता है। अपने से निर्बल के प्रति क्षमाशील होता है, अकारण ही दण्ड नहीं देता, जो भी मिले उसी में संतुष्ट रहने वाला, खिन्न न होने वाला, चित्तवृत्तियों को वश में करके कार्य करने वाला योगी, मन व इन्द्रियों को जिसने वश मे किया है ऐसा संयमी, निश्चयात्मिक बुद्धि वाला अर्थात् अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहने वाला, ईश्वर में समर्पित मन और बुद्धि वाला ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। ये सभी गुण उसी भक्त में हो सकते है जिसका वाचिक, कायिक, मानसिक तप सात्विक हो। इसमें मन का शुद्ध का होना बहुत आवश्यक है। रामचरितमानस में भी लिखा है- "निर्मल मन जन सोई मोहि भावा, मोहि कपट छल छिद्र न पावा।"

वस्तुतः उपरोक्त लक्षणों से युक्त भक्त होना कठिन अवश्य है पर असंभव नहीं। ऐसे भक्त बनने के लिए धन का नहीं शुद्धमन का होना आवश्यक है। यदि मन शुद्ध है तो सभी गुण स्वतः ही आ जाएंगे और भगवान के प्रिय भक्त हो जाएंगे।

78. **यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।**
हर्षामर्षभयोद्वेगैमुक्तो यः स च मे प्रियः।। (12/15)

अन्वय- यस्मात् लोकः न उद्विजते यः लोकात् न उद्विजते च। यः हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः सः मे प्रियः।

शब्दार्थ- **यस्मात्**- जिससे, **लोकः**- संसार (लोग), **न**- नहीं, **उद्विजते**- उद्विग्न (व्याकुल, परेशान) होते, **यः**- जो, **लोकात्**- संसार से (लोगों से), **न**- नहीं, **उद्विजते**- उद्विग्न होता (परेशान होता), **च**- और, **य**- जो, **हर्षामर्षभयोद्वेगैः**- प्रसन्नता, असहिष्णुता, भय और उत्तेजना से, **मुक्तः**- मुक्त (रहित), **सः**- वह, **मे**- मुझे, **प्रियः**- प्रिय (है)

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्‌भगवद्गीता" के 'भक्तियोग' नामक द्वादश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- भक्त के अन्य लक्षण बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि -

अनुवाद- जिससे संसार क्षुब्ध (व्याकुल) नहीं होता और जो संसार से क्षुब्ध (व्याकुल) नहीं होता है और जो हर्ष, असहिष्णुता, भय और उद्वेग (उत्तेजना) से मुक्त है वह मुझे प्रिय है।

व्याख्या- भगवान को ऐसा भक्त प्रिय है जिससे संसार के प्राणी व्याकुल नहीं होते अर्थात् उसका व्यवहार ऐसा होता है, जिससे प्राणियों को सुख मिलता है, ऐसा व्यवहार उसी मनुष्य का होगा जो कायिक, वाचिक एवं मानसिक तप सात्विकभावना से करता है। कुछ ऐसे व्यक्तित्व होते है जिनकी उपस्थिति मात्र ही वातावरण को निर्मल, शान्त बना देती है। ऐसे व्यक्तित्व वाला भक्त ही भगवान को प्रिय है। इसी प्रकार जो संसार से क्षुब्ध या संतप्त नहीं होता वस्तुतः संतप्त वही होता है जो आशावान होता है तथा सतत असंतुष्ट रहता है। संसार में कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जिसे सब कुछ इच्छानुरूप प्राप्त हो जाता है अतः ऐसी परिस्थिति में भी जो संसार में रहते हुए संतप्त नहीं होता अपितु प्रसन्नचित्त रहता है। ऐसा भक्त भगवान को प्रिय है। इसी प्रकार जो हर्ष से मुक्त है अर्थात् प्रिय वस्तु की प्राप्ति से बहुत उत्साहित न हो और प्रतिकूलता में असहिष्णु न हो। जिसके मन में किसी प्रकार का भय नहीं है जो 'विगतभीः' है। ऐसा वही हो सकता है जो मनोबली है तथा मनसा, वाचा, कर्मणा उचित कार्य करता है। वही भयमुक्त हो सकता है और उद्विग्नता से मुक्त होने का अभिप्राय है कि प्रतिकूल परिस्थिति में भी जो क्रोधादि आवेगों से रहित रहता है। ऐसा भक्त भगवान को प्रिय है। वस्तुतः ये सभी गुण उसी भक्त के होते है जो सच्ची श्रद्धा से भक्ति करता है।

79. **अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।**
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। (12/16)

अन्वय- यः अनपेक्षः, शुचिः, दक्षः, उदासीनः, गतव्यथः, सर्वारम्भपरित्यागी सः मद्भक्तः मे प्रियः।

शब्दार्थ- यः- जो, **अनपेक्षः-** अपेक्षा रहित, **शुचिः-** पवित्र, **दक्षः-** कुशल, निपुण, **उदासीनः-** तटस्थ (पक्षपात रहित), **गतव्यथः-** दुःखरहित, **सर्वारम्भपरित्यागी-** सभी कर्मों के फल का त्याग करने वाला, **सः-** वह, **मद्-** मेरा, **भक्तः-** उपासक, **मे-** मुझे, **प्रियः-** प्रिय है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्‌भगवद्गीता" के 'भक्तियोग' नामक द्वादश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- अन्य किन गुणों से भक्त भगवान को प्रिय होता है इसके विषय में श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं-

अनुवाद- जो अपेक्षा रहित, पवित्र, कुशल, तटस्थ, व्यथा रहित तथा सभी कर्म फलों का त्याग करने वाला वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

व्याख्या- जो शरीर, इन्द्रिय, विषय और उनके सम्बन्ध आदि विषयों में आशा रहित है। किसी से अपेक्षा नहीं रखता, अन्तःकरण और बाह्यरूप से जो पवित्र है, कुशल अर्थात् अनेक कर्मों को तुरन्त निश्चित रूप से करने में समर्थ है तथा जो उदासीन अर्थात् किसी का भी पक्षपात न करने वाला और जो व्यथा रहित है जिसे प्रतिकूलता में भी कोई दुःख नहीं होता। समस्त कामना के कारण किए जाने वाले कर्मों को त्यागने का जिसका स्वभाव है ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है। सर्वारम्भ का अर्थ है इस लोक और परलोक के फलभोग के लिए किए जाने वाले सभी सकाम कर्म। इन्हें किया जाता है इसलिए इन्हें सर्वारम्भ कहा गया है। इस प्रकार सर्वारम्भ का त्याग करने वाला भक्त ही प्रिय है।

80. **यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।**
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।। (12/17)

अन्वय- यः हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति न यः शुभाशुभपरित्यागी सः भक्तिमान् मे प्रियः।

शब्दार्थ- यः- जो, **हृष्यति-** हर्षित होता है, **न-** नहीं, **द्वेष्टि-** द्वेष करता है, **न-** नहीं, **शोचति-** शोक करता है, **न-** नहीं, **कांक्षति-** इच्छा करता है, **न-** नहीं, **यः-** जो, **शुभाशुभपरित्यागी-** अच्छे और बुरे (कर्म) का त्याग करने वाला, **सः-** वह, **भक्तिमान्-** भक्ति से युक्त, **मे-** मुझे, **प्रियः-** प्रिय है

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्‌भगवद्गीता" के 'भक्तियोग' नामक द्वादश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- प्रिय भक्त के ही लक्षणों का उल्लेख करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं -

अनुवाद- जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कोई इच्छा करता है, शुभ और अशुभ (कर्मों) का त्याग करने वाला वह भक्तिमान मुझे प्रिय है।

व्याख्या- यहां प्रिय भक्त के पूर्वोक्त लक्षणों को ही अन्य रूप से बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो इच्छित वस्तु की प्राप्ति में हर्ष नहीं मानता अर्थात् बहुत अधिक उत्साहित नहीं होता और न प्राप्त होने पर द्वेष नहीं करता या किसी की भी सफलता व उन्नति से द्वेष नहीं करता। दुःख आने पर शोक नहीं करता और जिसके मन में किसी प्रकार की कोई इच्छा नहीं है तथा जिसने शुभ और अशुभ कर्मों का त्याग कर दिया है ऐसा मेरी भक्ति से युक्त भक्त मुझे प्रिय है।

81. **समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।**
शीतोष्ण सुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।। (12/18)

82. **तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।**
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। (12/19)

अन्वय- शत्रौ मित्रे, मानापमानयोः च समः, तथा शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः च तुल्यनिन्दास्तुतिः, मौनी, येन केनचित् सन्तुष्टः, अनिकेतः, स्थिरमतिः भक्तिमान् नरः मे प्रियः।

शब्दार्थ- **शत्रौ**- शत्रु पर (के प्रति), **मित्रे**- मित्र पर (के प्रति), **मानापमानयोः**- सम्मान और अपमान में (के प्रति), **च**- और, **समः**- एक समान (बराबर), **तथा**- और, **शीतोष्णसुखदुःखेषु**- सर्दी, गमी, सुख और दुःख में, **समः**- एक समान (बराबर), **सङ्गविवर्जितः**- रागरहित (आसक्ति को छोड़ने वाला), **च**- और, **तुल्यनिन्दास्तुतिः**- निन्दा और प्रशंसा में समान, **मौनी**- मौन रहने वाला, **येनकेनचित्**- जिस किसी प्रकार से, **सन्तुष्टः**- संतोष करने वाला, **अनिकेतः**- गृह में अनासक्त, **स्थिरमतिः**- दृढ़ विचारों वाला, **भक्तिमान्**- भक्ति से युक्त, **नरः**- मनुष्य, **मे**- मुझे, **प्रियः**- प्रिय है।

सन्दर्भ- प्रस्तुत श्लोक महर्षिवेदव्यास द्वारा संकलित शतसाहस्रीसंहिता महाभारत के भीष्मपर्व के अंश "श्रीमद्भगवद्गीता" के 'भक्तियोग' नामक द्वादश अध्याय से उद्धृत है।

प्रसंग- भक्त के ही उन लक्षणों का वर्णन कर रहे हैं जिससे वह भगवान का प्रिय भक्त हो जाता है श्रीकृष्ण कहते हैं -

अनुवाद- (जो) शत्रु और मित्र के प्रति समान मान और अपमान में (जिसकी) समदृष्टि हो और शीत उष्ण में भी समभाव हो तथा आसक्ति का त्याग करने वाला, निन्दा स्तुति में समभाव रहने वाला, मितभाषी (कम बोलने वाला), जिस किसी भी (वस्तु) से संतोष करने वाला, गृह में अनासक्त, स्थिर बुद्धि वाला भक्ति से युक्त मनुष्य मुझे प्रिय है।

व्याख्या- शत्रु और मित्र के प्रति समान व्यवहार करने वाला भक्त प्रिय है ऐसा व्यवहार तो वही मनुष्य कर सकता है जिसे मानसिक तप का अभ्यास हो अन्यथा सामान्य मानव के लिए यह दुष्कर है। मान और अपमान में भी विचलित न होकर समदृष्टि रखना और सर्दी गर्मी को भी सहन करना, सांसारिक विषयों के प्रति राग रहित रहने वाला, निन्दा, स्तुति से भी प्रभावित न होने वाला, सोच समझकर जब आवश्यक हो तभी बोलने वाला, जो कुछ भी मिल जाए उससे ही संतुष्ट होने वाला, जिसका निवास नियत न हो अर्थात् घर के बंधनों में जो बंधने वाला न हो, केवल अपने उत्तरदायित्व को ही निभाने वाला तथा जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई अर्थात् जो स्थितप्रज्ञ (निष्काम, संयमी, संतुष्ट बुद्धि बाला) है वह भक्तियुक्त मनुष्य मुझे प्रिय है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भक्तियोग का उपदेश दिया।

सामान्य जीवन में देखा जाए तो मनुष्य जो भी कर्म करता है वह ही पूजा है। यदि वह भक्त के लक्षणों से युक्त होकर करे तो उसका कार्य सिद्ध होगा क्योंकि श्रीकृष्ण ने कहा है जब भक्त मुझमें समर्पित होकर कर्म करता है तो फिर उसका दायित्व मुझ पर होता है उसके इस समर्पण भाव से प्रसन्न होकर मैं उसे सफलता प्रदान करता हूं।

टिप्पणी

1. अष्टधा प्रकृति

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के ज्ञानविज्ञान नामक सप्तम् अध्याय में प्रकृति के दो भेद बताए हैं- परा प्रकृति व अपरा प्रकृति। परा प्रकृति के अन्तर्गत जीवात्मा को माना है और अपरा प्रकृति के अन्तर्गत आठ तत्वों को माना है। वे आठ तत्व परमात्मा की अष्टधा प्रकृति है अर्थात् आठ रूपों वाली पदार्थो को उत्पन्न करने की शक्ति है। अष्टधा प्रकृति के आठ तत्व इस प्रकार है-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। (7/4)

संसार में जड़ तथा चेतन ये दो तत्व दिखाई देते हैं। जड़ का रूप अष्टधा प्रकृति है, चेतन का रूप संसार के अनन्त जीव है। जड़ प्रकृति अर्थात् अष्टधा प्रकृति ईश्वर का 'अपर' रूप है, चेतन जीव ईश्वर का 'पर' रूप है। शंकराचार्य के मतानुसार "भिन्ना प्रकृतिष्टधा" के कारण भूमि शब्द का प्रयोग पृथिवी-तन्मात्रा के लिए है। स्थूल पृथ्वी के लिए नहीं। इसी प्रकार अन्य तत्व जल, अग्नि, वायु और आकाश भी तन्मात्रा रूप से कहे जाते हैं। जैसे रूप, रस, स्पर्श, गन्ध शब्दादि। इसी प्रकार मन से उसके कारणभूत अहंकार को ग्रहण किया जाता है तथा अहंकार का कारण महतत्व और अहंकार- अविद्यायुक्त-मूल प्रकृति। प्रकृति को ईश्वर की माया-शक्ति माना गया है।

2. मन का स्वरूप

ईश्वर की अष्टधा प्रकृति के अन्तर्गत मन है-

भूमिरापोऽनलो वायुः रवं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। (7/4)

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण मन को छठी इन्द्रिय मानते है-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। (15/7)

अष्टधा प्रकृति में मन से उसके कारण भूत अहंकार का ग्रहण किया गया है। मन के अन्तर्गत पांचों ज्ञानेन्द्रियां (आंख, कान, जीभ, नाक, त्वचा) और पांचों कर्मेन्द्रियां (हस्त, पाद, वाणी, गुदा, उपस्थ) हैं। मन को 'इन्द्रियों' से श्रेष्ठ बताया है- "**इन्द्रियेभ्यः परं मनः**"।(3/42) क्योंकि इन्द्रियां मन के द्वारा ही विषयों की ओर उन्मुख होती हैं- "**अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।**" (15/9) मन उभयेन्द्रियात्मक अर्थात् यह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी है। जैसाकि सांख्यकारिका में कहा है- "**उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्**"। अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं कि- "**चंचलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद्दृढम्।**" (6/34) अर्थात् मन वहुत चंचल, बलशाली दृढ़ तथा प्रमथनशील (झकझोररने वाला) है। इस प्रकार मन का स्वरूप गीता में बताया गया है।

3. मानसिक द्वन्द्व

मानसिक द्वन्द्व का अभिप्राय है मन में संशय रहना कि क्या उचित है? क्या अनुचित है? क्या करणीय है? क्या अकरणीय? ऐसी निर्णय न करने सकने की स्थिति "मानसिक द्वन्द्व" कहलाती है। मन का लक्षण भी है- "संकल्पविकल्पात्मकं मनः।" मन संकल्प एवं विकल्प करता है। जब इन्द्रियों के माध्यम से विषयों की ओर अग्रसर होता है तो उनके ग्रहण करने या न करने की जो अन्तःकरण में उहापोह होता है वही मानसिक द्वन्द्व है। इस मानसिक द्वन्द्व का मुख्य कारण काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, ईर्ष्या, मात्सर्य है। इनमें भी रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध को श्रीकृष्ण ने मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु कहा है क्योंकि ये मनुष्य के दुःख का कारण हैं। मानसिक द्वन्द्व की स्थिति से मुक्ति केवल अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा स्थित प्रज्ञ होकर ही संभव है। निश्चयात्मिकाबुद्धि होने पर सभी मानसिक द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। कुरुक्षेत्र की रणभूमि में अर्जुन के "युद्ध करूं या न करूं" इस मानसिक द्वन्द्व का कारण स्वजनों के प्रति मोह था। जब श्रीकृष्ण ने आत्मा की अमरता एवं शरीर की नश्वरता के विषय में अर्जुन को उपदेश दिया तो अर्जुन का स्वजनों के प्रति मोह समाप्त हो गया। जिसके फलस्वरूप उसकी मानसिक द्वन्द्व की स्थिति भी समाप्त हो गई और उसने कह दिया-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। (18/73)

4. मनोनिग्रह के साधन

मनोनिग्रह का अर्थ मन को वश में करना। मनोनिग्रह का प्रयोजन इसलिएं है क्योंकि यदि मन वश में नहीं होगा तो वह इन्द्रियों के अधीन होकर विषयोन्मुख होता जाएगा। विषयों की ओर जाने से अर्थात् भौतिक सुख साधनों का ध्यान करने से उनके

प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति के कारण उनके प्रति काम (इच्छा) जागृत होता है, यदि इच्छा पूरी न हो तो क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से सम्मोह (पागलपन), सम्मोह से स्मृतिनाश और फिर बुद्धि का नाश होता है। अन्ततः मनुष्य नष्ट हो जाता है। इसलिए इस शरीर रूपी रथ की लगाम बुद्धि रूपी सारथि को कभी ढीली नहीं छोड़नी चाहिए, नहीं तो इन्द्रिय रूपी घोड़े अपनी इच्छा से गति करने लगेंगे। इसलिए मनोनिग्रह आवश्यक है। श्रीकृष्ण ने जब अर्जुन को मनोनिग्रह के लिए कहा तो अर्जुन बोला-

चंचलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद्दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। (6/34)

भाव यह है कि चंचल, बलशाली, दृढ़ विचलित करने वाले इस मन को वश में करना इतना कठिन है जितना कि वायु को रोकना। यह सुनकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मनोनिग्रह के साधन बताते हुए कहा कि-

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। (6/35)

श्रीकृष्ण ने भी स्वीकार किया कि मन निस्सदेह चंचल एवं कठिनता से वश में होने वाला है परन्तु अभ्यास एवं वैराग्य से इसे वश में किया जा सकता है।

अभ्यास को मनोनिग्रह का प्रथम साधन इसलिए कहा क्योंकि बार-बार सांसारिक सुख साधनों को त्यागने की कोशिश करते रहने से उनके प्रति विरक्ति स्वतः ही हो जाती है। प्रत्येक कार्य में कुशलता अभ्यास से ही आती है। मन को वश करने के लिए भी काम, क्रोध आदि को छोड़ने का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए जिससे मन की चंचलता समाप्त हो जाए।

वैराग्य यह भी मनोनिग्रह के लिए महत्वपूर्ण साधन है क्योंकि जब विषय वासनाओं से विरक्ति हो जाएगी तो उनकी प्राप्ति की इच्छा भी समाप्त हो जाएगी। जब इच्छा ही नहीं रहेगी तो क्रोध भी नहीं होगा और मन शान्त एवं स्थिर रहेगा। अभिप्राय यह है कि जिन विषयों से मनोनिग्रह में बाधा आती है उनके प्रति विरक्ति एवं जिन कार्यों से मन स्थिर व शान्त रहता है उनका निरन्तर अभ्यास करते रहने से ही मनोनिग्रह संभव है।

5. इन्द्रिय-निग्रह

इन्द्रियों को अपने वश में रखना "इन्द्रिय निग्रह" है। शरीर रूपी रथ में इन्द्रियों को घोड़ा माना है। यदि रथ के घोड़े स्वच्छन्द होंगे तो ये रथ को गन्तव्य तक ले जाने में समर्थ नहीं होंगे। उनकी गति अपने अनुकूल बनाने के लिए उन पर नियंत्रण रखना अनिवार्य है। इसी प्रकार आंख, कान, नाक, जिह्वा एवं त्वक् इन इन्द्रियों को भी वश

में रखना आवश्यक है। यदि ये सुचारू रूप से निगृहीत नहीं होगी तो मानव भौतिक विषयों के जाल में ही फंसा रहेगा। इसलिए जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय निग्रह करना चाहिए क्योंकि इन्द्रियां बहुत बलशाली होती हैं ये मनुष्य को बलपूर्वक भौतिक विषयों में ले जाती है। मन भी इन्द्रियों का अनुकरण करता है और फिर बुद्धि भी उन्हीं के अनुसार कार्य करती है जैसे कि रथ के घोड़े अनियंत्रित होकर सारथी एवं लगाम को अपने ही अनुकूल कर लेते हैं। श्रीकृष्ण ने कहा है-

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। (2/67)

जैसे वायु नाव को अपने अनुकूल दिशा में ले जाती है वैसे ही इन्द्रियां मनुष्य के मन को अपने अनुकूल बनाकर उसकी बुद्धि का हरण कर लेती हैं। ये इन्द्रियां बुद्धिमान मनुष्य के मन को भी विचलित कर देती हैं-

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।। (2/60)

अतः स्थितप्रज्ञ होने के लिए इन्द्रिय निग्रह आवश्यक है। इसके लिए अपने मन की इच्छाओं का त्याग करना होगा और जो प्राप्त है उसी में संतुष्ट रहना होगा। यदि इन्द्रियों के विषय देखना, सुनना, चखना आदि को महत्व देंगे तो हमारी इच्छाएं इनके प्रति और बढ़ेगी कम नहीं होगी। अपनी कामनाओं का त्याग ही इन्द्रिय निग्रह का सरल उपाय है।

6. त्रिविध गुण

सत्व, रजस् और तमस् ये तीन प्रकार के गुण हैं। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति इन्हीं गुणों के कारण होती है। ये तीनों गुण सभी पदार्थों में विद्यमान होते हैं परन्तु जिस पदार्थ में जिस गुण की अधिकता होती है वह पदार्थ उस गुण से युक्त माना जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इन त्रिविध गुणों के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है-

सत्वगुण- सत्वगुण लघु, प्रकाशक और प्रीतियुक्त होता है। सत्वगुण के कारण सत् असत् का भेद प्रकाशित होता है। सत्वगुण की वृद्धि से ज्ञान एवं प्रकाश उत्पन्न होता है-

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत।। (14/11)

रजोगुण- यह प्रेरक, चंचल और अप्रीति युक्त होता है। यह सत्व और तमस् को भी अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करता है। सभी पदार्थों की क्रियाशीलता का कारण यह

ही है। मनुष्य में काम, क्रोध, लोभ आदि विकार रजोगुण की वृद्धि होने पर ही उत्पन्न होते हैं-

लोभः प्रवृत्तिराम्भः कर्मणामषमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।। (14/12)

तमोगुण- यह गुरु, प्रकाश को ढकने वाला विषादयुक्त होता है। तमोगुण के बढ़ने पर मनुष्य में प्रमाद (लापरवाही) निद्रा, तन्द्रा (आलस्य) मोह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं-

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।। (14/13)

7. त्रिविधतप

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को योगसिद्धि हेतु यज्ञ व तप के विषय में वताया। उन्होंने तीन प्रकार के तप का वर्णन किया। वे त्रिविध तप हैं- कायिक, वाचिक एवं मानसिक।

कायिकतप- कायिक अर्थात् शरीर सम्बन्धी तप। इसका लक्षण इस प्रकार है-

देवद्विजगुरूप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। (17/14)

जो तप शरीर के द्वारा किए जाए जैसे देव, ब्राह्मण, गुरू और ज्ञानी इनका पूजन अर्थात् सम्मान, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन आदि। यह कायिक तप कहलाता है।

वाचिक तप- वाचिक अर्थात् वाणी सम्बन्धी तप। इसका लक्षण इस प्रकार है-

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।। (17/15)

जो वचन सत्य हो और उद्वेग (विचलित) करने वाला न हो तथा प्रिय और हितकर भी हो ऐसे वचनों को बोलना एवं यथाविधि स्वाध्याय का अभ्यास करना वाचिक तप कहा जाता है।

मानसिक तप- मन से किया जाने वाला तप मानसिक तप है। इसका लक्षण इस प्रकार है-

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। (17/16)

मन की परम शान्ति, अन्तःकरण की सौम्य शुद्धवृत्ति, मौन अर्थात् वाणी का संयम, दूसरों के प्रति छल कपट रहित शुद्ध भावयुक्त व्यवहार, यह मानसिक तप है।

इस कायिक, वाचिक एवं मानसिक कार्यों को तप इसलिए कहा है क्योंकि इनके करने से कष्ट का अनुभव होता है। इन्हें करना कठिन होता है। स्वयं को तपा कर अर्थात् कष्ट देकर ही ये कार्य किए जाते हैं अर्थात् अपने सुख एवं स्वार्थ का त्याग करके ही ये कार्य करना संभव है अतः इन्हें तप कहा है।

त्रिविध तपों को सात्विक, राजसिक व तामसिक रूप से भी वर्णित किया है। ये त्रिविध तप त्रिविध गुणों के आधार पर इस प्रकार है-

सात्विक तप- जो फल की इच्छा रहित और समाहित मनुष्यों द्वारा उत्तम श्रद्धापूर्वक-आस्तिकबुद्धिपूर्वक किया जाए, ऐसे तप को श्रेष्ठ मनुष्य सात्त्विक अर्थात् सत्वगुण से युक्त मानते हैं-

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते।। (17/17)

राजसिक तप- जो तप सत्कार, मान एवं पूजा प्राप्त करने के लिए अहंकार से किया जाता है उसे अनिश्चित व अनित्य राजसिक तप कहा जाता है-

सत्कार मान पूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।। (17/18)

तामसिक तप- जो तप अपने शरीर को पीड़ा पहुंचाकर या दूसरे का बुरा करने के लिए मूढतापूर्वक आग्रह से अर्थात् अज्ञानपूर्वक बलपूर्वक किया जाता है वह तामसिक तप कहा गया है-

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीऽया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।। (17/19)

त्रिविध तप भी यदि सात्विक भावना से किए जाए तभी उनका चिरस्थायी फल मिलता है अन्यथा वे तप निरर्थक व निष्फल हैं।

8. त्रिविध बुद्धि

मनुष्य के मन में किसी पदार्थ के विषय में उपस्थित विचार का निश्चय करने वाली जो वृत्ति होती है वह बुद्धि है- "निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः बुद्धिः"।

इसे विवेक शक्ति भी माना जाता है। यह मन की अधिष्ठातृ होने के कारण मन से श्रेष्ठ होती है- "मनसस्तु पराबुद्धिः"।

संसार के सभी पदार्थों के समान बुद्धि भी तीन गुणों (सत्व, रजस्, तमस्) से युक्त होने के कारण तीन प्रकार की है- सात्विकी, राजसी व तामसी। त्रिविध बुद्धि का स्वरूप इस प्रकार है-

सात्विकी बुद्धि- जो बुद्धि प्रवृत्ति अर्थात् बन्धन के हेतु रूप कर्म मार्ग को और निवृत्ति अर्थात् मोक्ष के हेतु रूप संन्यास मार्ग को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को (इनके कारणों को) तथा बन्धन और मोक्ष के कारण को जानती है, वह बुद्धि सात्विकी है-

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी।।

(18/30)

राजसी बुद्धि- जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य शास्त्रविहित धर्म को अर्थात् कर्म को और शास्त्र द्वारा प्रतिषिद्ध अधर्म को अर्थात जिन कर्मों को करने के लिए शास्त्र स्वीकृति नहीं देता तथा करणीय और अकरणीय के भेद को ठीक प्रकार से नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है-

यदा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धि सा पार्थ राजसी।। (18/31)

तामसी बुद्धि- जो तमोगुण से युक्त बुद्धि अधर्म को अर्थात् जिस कार्य को करने का निषेध है उसे धर्म अर्थात् करने योग्य कर्म समझ लेती है तथा समस्त पदार्थों के विषय में जिसकी समझ (ज्ञान) विपरीत ही होती है अर्थात् जो वास्तविकता है उसे विपरीत आचरण करने वाली बुद्धि तामसी बुद्धि होती है-

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धि सा पार्थ तामसी।। (18/32)

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को त्रिगुणों पर आधारित त्रिविध बुद्धि का स्वरूप वर्णित किया जिससे कि अर्जुन इन्हें समझ कर सात्विकी बुद्धि द्वारा चिन्तन कर अपने कर्त्तव्य पर अग्रसर हो।

9. आहार नियंत्रण व शुद्धि

आहार प्रत्येक प्राणी के लिए परमावश्यक है क्योंकि अन्न से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं- "**अन्नाद्भवन्ति भूतानि..... (13/14)** आहार का सेवन भी उचित मात्रा, उचित समय एवं उचित गुणवत्ता वाला होना चाहिए। इस दृष्टि से श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि-

युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (6/17)

समस्त दुःखों के नाशक योग की सिद्धि के लिए उपयुक्त आहार व आचरण, कर्मों के प्रति उचित प्रयास, उचित समय में सोना, जागना आवश्यक है। यहां सर्वप्रथम आहार का उल्लेख किया है क्योंकि सर्वप्रथम आहार के सेवन से ही मनुष्य योगादि कर्मों को करने में सक्षम होगा। आहार उतना ही लेना चाहिए जितनी आवश्यकता हो। इसमें जिह्वा इन्द्रिय के नियंत्रण का विशेष महत्व होता है। कई बार हम बिना भूख के भी लोभवश खा लेते हैं परिणामतः रोगग्रस्त हो जाते हैं। मनुष्य को कितना आहार लेना चाहिए, इस विषय में कहा है-

अर्धं सव्यंजनान्नस्य तृतीयमुदकस्य च।
वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्।।

जितनी भूख हो उससे आधा भाग अन्न खाकर, तृतीय भाग जल पीकर और चौथा भाग वायु के संचरण के लिए छोड़ देना चाहिए। अभिप्राय यह है कि पेट को केवल अन्न से ही नहीं भर लेना चाहिए अपितु आधा हिस्सा ही भरना चाहिए। ऐसे आहार करना ही आहार नियंत्रण है। आहार नियंत्रण में आहार शुद्धि का भी विशेष महत्व है। श्रीकृष्ण अर्जुन से त्रिविध गुणों पर आधारित आहार का वर्णन करते हैं कि सात्विक, राजसिक व तामसिक भोजन इन्हीं गुणों से युक्त व्यक्तियों को प्रिय होता है। वे कहते हैं-

सात्विक आहार- ऐसा आहार जो आयु, तेज या ऊर्जा शक्ति, स्वास्थ्य, सुख, प्रसन्नता को बढ़ाने वाला रसयुक्त, चिकने, शरीर में अधिक समय तक स्थिर रहने वाला और हृदय को प्रिय लगने वाला हो वह सात्विक आहार होता है। ऐसा आहार सात्विक लोगों को प्रिय होता है-

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धा स्थिरा हृद्याः आहार सात्विकप्रियाः।।

(17/8)

राजसिक आहार-ऐसा आहार जो अधिक कड़वा, अधिक खट्टा, अधिक लवणयुक्त, अधिक गरम, अधिक तीखा तथा रूखा जलन पैदा करने वाला, दुःख, शोक व रोग उत्पन्न करने वाला हो, वह राजसिक है और राजसिक लोगों को प्रिय होते है-

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहार राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।। (17/9)

तामसिक आहार- ऐसा आहार जो अधपका, रसरहित दुर्गन्धयुक्त और बासी (पिछले दिन का बना हुआ) जूठा और जो यज्ञ के योग्य (ईश्वर का भोग लगाने योग्य) न हो वह तामसिक आहार है। ऐसा आहार तामसी वृत्ति के लोगों को प्रिय होता है-

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।। (17/10)

इन त्रिविध आहारों में योग सिद्धि के लिए सात्विक आहार ही शुद्ध आहार है। अतः हमें आहार पर नियंत्रण रखते हुए सात्विक आहार का ही सेवन करना चाहिए। ऐसा करने से हमारे विचार भी सात्विक होंगे। कहा है- जैसा अन्न वैसा मन। शुद्ध आहार आरोग्यता, बल व सुख देने वाला होता है। चरक सूत्र में मनुष्य शरीर के तीन आधार स्तम्भ बताए हैं- त्रय उपस्तम्भ इति- **आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति (11/35)** इनमें प्रथम आधार- आहार की शुद्धि शरीर की रक्षा में विशेष अपेक्षित है।

10. स्थित प्रज्ञ

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि इन्द्रिय निग्रह, मनोनिग्रह के साथ-साथ बुद्धि की स्थिरता भी निष्काम कर्मयोग में होनी चाहिए क्योंकि यह अनिश्चयात्मिका बुद्धि अनन्त और अनेक शाखाओं वाली होती है अतः निश्चयात्मिका बुद्धि वाला होकर स्थितप्रज्ञ बनो। यह सुनकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा-

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।। (2/54)

इस प्रकार स्थित प्रज्ञ सम्बन्धी अर्जुन की जिज्ञासा को पूर्ण करते हुए श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ का स्वरूप इस प्रकार वर्णित किया-

जब मनुष्य मन में स्थित सारी इच्छाओं को छोड़ देता है और अपने आप में संतुष्ट रहता है किसी से कुछ अपेक्षा नहीं करता वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है-

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। (2/55)

जो मनुष्य दुःखों से विचलित नहीं होता सुखों में जिसकी इच्छा नहीं है जो राग, भय तथा क्रोध से रहित है, जो शुभ या अशुभ को पाकर न प्रसन्न होता है न दुःखी होता है। जो हर्ष-विषाद से रहित है। ऐसा मनुष्य स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। (2/56)

जिस मनुष्य ने कछुए के अंगों के समान अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपने वश में कर लिया है अर्थात् जो इन्द्रियनिग्रह करके ईश्वरपरायण हो गया है उसकी बुद्धि स्थिर अर्थात् प्रतिष्ठित हो जाती है-

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (2/58)

इस प्रकार स्थित प्रज्ञ के स्वरूप व लक्षण बताये गये हैं। स्थितप्रज्ञ होकर योग की सिद्धि हो सकती है।

11. भक्त का लक्षण

आत्मप्रबन्धन की प्रक्रिया में समर्पण का विशेष महत्व है। समर्पण का ही दूसरा रूप "भक्ति" है। अहम् भाव, कर्तृत्व भाव का त्याग करके ही "भक्ति" का भाव आता है। भक्ति भाव से युक्त जो भक्त ईश्वर को प्रिय है उसका लक्षण श्रीकृष्ण ने इस प्रकार बताया-

जो सभी प्राणियों के प्रति द्वेषभाव रहित, मित्रभाव से युक्त, करुणामय, ममता रहित, अहंकार रहित, सुख-दुःख में समान, क्षमावान्, सदा सन्तुष्ट रहने वाला, योगी, जीते हुए स्वभाव वाला अर्थात् अपने को हारा हुआ न मानने वाला, दृढ़ निश्चय वाला, मुझमें (ईश्वर में) अर्पित मन और बुद्धि वाला ही सच्चा भक्त है, वही ईश्वर को प्रिय है। भक्त हर्ष, अमर्ष (असहिष्णुता) भय और उद्वेग से रहित होता है। भक्त कभी किसी से अपेक्षा नहीं रखता वह मन वाणी कर्म से पवित्र होता है। कामनाओं के कारणरूप कर्मों का त्याग करने वाला होता है। भक्त न तो बहुत खुश होता है न द्वेष करता है न शोक करता है, शुभ और अशुभ कर्मों का त्याग करने वाला होता है। भक्त शत्रु-मित्र के प्रति मान-अपमान शीत-उष्ण और सुख-दुःख में समान रहता है। निन्दा स्तुति में समान, सदा संतुष्ट, मौनी, स्थिरमति, गृह से अनासक्त रहने वाला ही सच्चा भक्त है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो इन गुणों का पालन करते हैं वे मेरे परायण हुए यथार्थ ज्ञानरूप उत्तम भक्ति का अवलम्बन करने वाले मेरे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

प्रश्नपत्र का प्रारूप

समय : 3 घण्टे **अधिकतम अंक : 75**

1. सप्रसंग व्याख्या – प्रत्येक खण्ड (क,ख,ग,घ,ङ) में से किसी एक श्लोक की व्याख्या। 5x7 = 35
2. किन्हीं दो प्रश्नों के उत्तर दीजिए। 2x11 = 22
3. किन्हीं तीन पर टिप्पणियां लिखिए। 3x6 = 18

संभावित प्रश्न

1 गीता के अनुसार 'आत्मप्रबन्धन' के स्वरूप पर एक लेख लिखिए।

2 गीता के अनुसार इन्द्रियों एवं मन के नियन्त्रण हेतु 'आत्मप्रबन्धन' की प्रक्रिया की विवेचना कीजिए।

3 गीता के अनुसार त्रिगुणात्मक सृष्टि की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए तथा मानसिक द्वन्द्वों के मूल कारण के रूप में रजोगुण की व्याख्या कीजिए।

4 गीता के अनुसार मन का स्वरूप बताते हुए मनोनिग्रह के उपाय बताइए।

5. गीता के अनुसार योग की सिद्धि हेतु आहार शुद्धि के महत्व पर प्रकाश डालिए।

श्लोकानुक्रमणिका

क्र.	श्लोक	पृ०	क्र.	श्लोक	पृ०
1	अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करूण	69	28	तमस्त्वज्ञानजं विद्धि	8
2	अथकेन प्रयुक्तोऽयं	21	29	तुल्यनिन्दा स्तुतिर्मौनी	73
3	अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं	68	30	तस्मात्सर्वेषु कालेषु ..	63
4	अधर्मं धर्ममिति या	81	31	तस्मादज्ञानसंभूतं	46
5	अधिष्ठानं तथा कर्ता	53	32	देवद्विजगुरूप्राज्ञ	37
6	अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो	71	33	धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे	14
7	अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं	79	34	धूमेनाव्रियते	22
8	अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च	79	35	न चैतद्विमः कतरन्नो	17
9	असंशयं महाबाहो मनो	28	36	न हि ज्ञानेन सदृशं	45
10	असंयतात्मना	42	37	नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति	32
11	अहोबत महत्पापं कर्तुं	16	38	नियतं कुरु कर्म त्वं	31
12	आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीति	34	39	नैवं किंचित्करोमीति	55
13	आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो	23	40	पञ्चैतानि महाबाहो	52
14	इच्छा देषः सुखंदुःखं	5	41	पत्रं पुष्पं फलं तोयं	67
15	इति ते ज्ञानमाख्यातं	49	42	प्रजहाति यदाकामान्	58
16	इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः	78	43	प्रलपन्विसृजन्	56
17	इन्द्रियाणां हि चरतां	20	44	प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च	47
18	कट्वम्ललवण	35	45	प्रशान्तात्मा विगतभीः	30
19	कर्मण्येवाधिकारस्ते	54	46	बहूनि मे व्यतीतानि	26
20	कलैब्यं मा स्म	25	47	भूमिरापोऽनलो	75
21	काम एष क्रोध	21	48	मत्कर्मकृन्मत्परमो	64
22	कार्पण्य दोषोपहतस्वभावः	61	49	मनः प्रसादः सौम्यत्वं	39
23	किं कर्म किमकर्मेति	14	50	ममैवांशो जीवलोके	2
24	चंचलं हि मनः	27	51	महाभूतान्यहंकारो	4
25	तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्	7	52	मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया	42
26	तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा	29	53	यततो ह्यपि कौन्तेय	19
27	तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं	55	54	यत्करोपि यदश्नासि	62

क्र.	श्लोक	पृ०
55	यदा ते मोहकलिलं	44
56	यया धर्ममधर्मं	48
57	यस्मान्नोद्विजते लोको	70
58	यातयामं गतरसं	36
59	युक्ताहारविहारस्य	33
60	ये यथा मां प्रपद्यन्ते	66
61	योगस्थ: कुरु कर्माणि	27
62	यो न हृष्यति न द्वेष्टि	73
63	यो यो यां यां तनु:	65
64	रजो रागात्मकं विद्धि	8
65	रागद्वेषवियुक्तैस्तु	51
66	लोभ: प्रवृत्तिरारम्भ:	10
67	व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह	18
68	विषया विनिवर्तन्ते	50
69	शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म	54
70	शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य	29
71	श्रद्धया परया तप्तं	40
72	श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं	45
73	श्रोत्रं चक्षु: स्पर्शनं	3
74	सक्ता: कर्मण्यविद्वांसो	59
75	सत्कारमानपूजार्थं	41
76	सत्वं रजस्तम इति	6
77	सत्त्वात्संजायते	11
78	संतुष्ट: सततं योगी	69
79	समं कायशिरोग्रीवं	30
80	सम: शत्रौ च मित्रे च	73
81	सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश	9
82	त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं	24